जैनत्त्व क्या है ?

-उदयमुनि

"कल्पवृक्ष"

लेखक परिचय

❖ नाम	–	प्रज्ञामहर्षि श्री उदयमुनि जी महाराज साहब
❖ सांसारिक नाम	–	श्री उदयलाल जरोली, नीमच (म० प्र०)
❖ जन्म स्थान	–	बड़ी सादडी, जिला चित्तौड़ (राजस्थान)
❖ पिता	–	श्री जीतमल जी जरोली
❖ माता	–	श्रीमती नजर बाई
❖ शिक्षा	–	एम०काम०, एल०एल०बी०, साहित्याचार्य, जैन सिद्धान्त प्रभाकर, साहित्य रत्न
❖ पद	–	चार वर्ष इन्दौर के महाविद्यालयों में प्राध्यापक, नीमच महाविद्यालय में विधि आचार्य और प्राचार्य पद पर 12 वर्ष, उसी अवधि में वि० वि० उज्जैन में, विधि अध्ययन परिषद के अध्यक्ष 3 वर्ष, विधि संकाय अध्यक्ष 4 वर्ष, जावद के महाविद्यालय में 5 वर्ष तक प्राचार्य, विक्रम वि० वा० में मान्य पी० एच० डी० निदेशक। इनके मार्गदर्शन में 12 एल०एल०एम० और 2 पी०एच०डी० निकले।
❖ विधि लेखक	–	विश्वविद्यालय में मान्य तीन विधि-ग्रंथ। विधि एवं संविधान सम्बन्धी समसामयिक समस्याओं के सम्बन्ध में दैनिक नई दुनिया इन्दौर कालम लेखक रहे।
❖ शिक्षण	–	विधि संकाय अध्यक्ष एवं प्राचार्य विधि अध्ययन परिषद अन्तगर्त विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म० प्र०)
❖ आध्यात्मिक लेखन		1. मोक्षमार्ग प्रवचन ग्रन्थ 2. सिद्धान्त बोध 3. क्रान्त दृष्टि 4. तीक्ष्ण दृष्टि 5. संलेखना-संथारा समाधि 6. जैनत्व क्या है?
❖ वेबसाइट	-	www.deshna.co.in (उपरोक्त सभी ग्रन्थ इस वेबसाइट पर पढ़े और सुने जा सकते हैं।)

जैनत्त्व क्या है?

–उदयमुनि

“कल्पवृक्ष”

kalpvraksha@gmail.com

''जैनत्त्व क्या है''

- लेखक — प्रज्ञामहर्षि श्री उदयमुनि जी महाराज साहब
- समर्पण — भोगों में अटकी-भटकी नव पीढ़ी को भगवान महावीर के दिव्य ज्ञान से प्रकाशित करने हेतु
- आमुख — पद्मश्री डॉ॰ रवीन्द्र कुमार
  पूर्व कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय
- प्रकाशक — ''कल्पवृक्ष''
  kalpvraksha@gmail.com, www.kalpvraksha.in
- प्रकाशन वर्ष — 2012 ई॰
- लागत मूल्य — **₹ 50** (अमूल्य)
- प्रथम संस्करण — अक्तूबर 2012
- प्रकाशनधिकार© — प्रकाशक के पास
- मुद्रक — गोयमा इंटरप्राइसिस, मोहकमपुर, फेस-I, मेरठ
- टंकण एवं साज सज्जा — सी डोट कम्प्यूटर्स, मेरठ।

प्राप्ति स्थान

1. **''कल्पवृक्ष''**
   श्री पुष्कर जैन, एडवोकेट (अध्यक्ष)
   C-115, जैन नगर, मेरठ-250002 (उ॰ प्र॰)
   फोन- 0121-2512589, 9412206374, 9897233877

2. **श्री भारत जारोली,**
   जारोली भवन, नीमच (म॰ प्र॰)
   फोन- 07423-220866, 221666, 9301038314, 9425923214

3. **श्री दिनेश जैन**
   जैन उपकरण एवं साहित्य भण्डार
   1296, कटरा धुलिया, चांदनी चौक, दिल्ली-110006
   फोन- 011-27604168

4. **मै0 मोती लाल बनारसी दास**
   41-यू॰ए॰, बंगलो रोड जवाहर नगर, दिल्ली-110007
   फोन- 011-23858335, 23851985

प्रकाशकीय

प्राचीन काल से आज के अत्याधुनिक भौतिक युग में मनुष्य जीवन का रहस्य हमेशा हमारे मन और अन्तरात्मा में कौतूहल बनाये रहता है। भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के बीच एक साधारण मनुष्य को यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि आखिर सत्य क्या है ? संवाद के आधुनिक संसाधनों तथा आधुनिक भौतिक विज्ञान से हमें यह तो समझ आ ही चुका है कि संसार एक है मनुष्य जाति एक है अन्तर है तो मात्र क्षेत्र, परंपरा या विचारधारा का है। फिर यह प्रश्न उठता है कि आखिर मनुष्य जीवन क्या है ? क्या आत्मा का अस्तित्व है ? क्या हमारा जीवन मात्र, बचपन से जवानी तक शिक्षा, जवानी में सांसारिक भोग तथा वृद्धावस्था में वानप्रस्थ या धर्म या अन्य मतानुसार जीवन, यही है ? आज का आधुनिक विज्ञान बड़े पैमाने पर इस रहस्य की खोज में लगा हुआ है। हम भी इस विज्ञान की खोज की बेसब्री से प्रतीक्षा कर रहे हैं कि इस रहस्य की गुत्थी सुलझ जाये। परन्तु हे देवानुप्रिय क्या हमने कभी वीतराग श्रमण भगवान महावीर के उस अलौकिक विज्ञान को जानने का प्रयत्न किया ? उसे जान कर नित नये प्रयोग किये ? **उस वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महावीर के वचनों में संसार के समस्त रहस्यों के समाधान बिखरे पड़े हैं।** आवश्यकता है तो मात्र उन्हें एक सूत्र में पिरोकर आज के संदर्भ में प्रस्तुत करने की जो आज की तार्किक पीढ़ी को सरलता से ग्राह्य हो जाये।

इसी क्रम में एक सशक्त प्रयास प्रज्ञा महर्षि श्री उदय मुनि जी महाराज द्वारा इस संक्षिप्त पुस्तक में भगवान महावीर द्वारा उद्‌घाटित संसार के **तत्व ज्ञान** का सरल, संक्षिप्त और शास्त्र सम्मत सार वर्णित कर किया है। पाठक इसे **भगवान महावीर द्वारा उद्‌घाटित उस विशाल ज्ञान-सागर** को अनुभव करने का मात्र प्रयास मानें। भगवान महावीर द्वारा उद्‌घाटित महाराज श्री का यह प्रयास वन्दनीय है, अनुकरणीय है।

अन्त में ''**कल्पवृक्ष**'' की स्थापना मात्र अरिहंतों की वाणी के प्रसार तथा उनकी तथा निर्गन्थों की पर्युपासना हेतु **आध्यात्म योगी जिन शासन सूर्य प्रवर्तक श्री शान्तिस्वरूप जी महाराज** की प्रेरणा-आशीर्वाद, **भीष्म-पितामह,तपस्वीरत्न, राजर्षि श्री सुमति प्रकाश जी महाराज** तथा हम सबके आदरणीय सम्मेदशिखर जी के **अधिष्ठायक देव समकितधारी श्री भौमिया जी महाराज** के पावन आशीर्वाद से हुई है। केवली भाषित धर्म की सर्वत्र प्रभावना तथा वैज्ञानिक अनुसंधान हो जो समस्त मनुष्य जाति को **लाभान्वित** करे। आत्म कल्याण के मार्ग पर अग्रसर करे यही हार्दिक मंगल भावना है।

''कल्पवृक्ष''

e-mail : kalpvraksha@gmail.com

आमुख

सर्वोच्च, स्वाभाविक और शाश्वत मूल्य अहिंसा को केन्द्र में रखकर अस्तित्व, उन्नति और लक्ष्य-प्राप्ति का आह्वानकर्ता जैन-दर्शन, वास्तव में, अद्वितीय, अनुकरणीय एवं सर्वकल्याणकारी मानव दर्शन है।

जैन-दर्शन के विकास में तीर्थंकरों की सर्वप्रमुख भूमिका होने के बावजूद; दूसरे शब्दों में, परमात्मा स्वरूप अरिहंतों के विचारों एवं अनुकरणीय व्यवहारों की प्रधानता होने के साथ ही अरिहंतों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों, विदुषियों-विद्वानों का भी अविस्मरणीय योगदान रहा है। हजारों वर्षों की लम्बी समयावधि में, इस प्रकार, जैन-दर्शन निरन्तर विकसित होकर निखरता रहा है। मानव-जीवन को श्रेष्ठाचरणों–सौहार्द्र, सद्भाव, सहयोग और एकता के आधार पर निर्देशित कर और इस प्रकार उसे सार्थक बनाने में अग्रणीय रहा है। अपने श्रेष्ठ मानवीय सिद्धान्तों और सत्याधारित व्यवहारों के आह्वान के बल पर यह आने वाले सभी कालों में महत्वपूर्ण, प्रासंगिक एवं अनुकरणीय रहेगा। इसमें किसी को भी कोई शंका नहीं रहनी चाहिए।

अध्यात्म-दर्शन, तत्व-तर्क और धर्म-ज्ञान, सभी दृष्टिकोणों से जैन-विचार न केवल उत्कृष्ट है, अपितु अनेकान्तवाद-स्यादवाद जैसे इसके पहलू तो अपने आप में बेजोड़ हैं। व्यक्तिगत से स्थानीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक समस्याओं, संघर्षों-विवादों और मतभेदों को सुलझाने में मानव का श्रेष्ठतः मार्गदर्शन करने में पूर्णतः सक्षम भी हैं। वे सत्य की पराकाष्ठा है। आवश्यकता है तो, जैन-दर्शन को सरल, सहज और गाह्य भाव से, इसके मूल सिद्धान्तों-तत्वों के आधार पर जानने-समझने की है।

*इसी दृष्टि से **प्रज्ञा महर्षि श्री उदय मुनि जी** द्वारा तैयार किया गया यह लघु ग्रंथ वास्तव में न केवल जैन-दर्शन के मूलाधारों को सरल व सहज भाव से समझाने में सक्षम है, अपितु जैन-विचार के आमजन से अछूते पहलुओं का परिचय कराने में भी भलीभाँति सक्षम है।*

__प्रज्ञा महर्षि श्री उदय मुनि जी__ ने जैन-दर्शन के समस्त मूलाधारों, मानव-जीवन में उनकी प्रासंगिकता और उनके बल पर जीवन को सफल-सार्थक करने की वास्तविकता प्रकट कर निस्सन्देह चिरस्मरणीय कार्य किया है। यह कार्य न केवल अपने उद्देश्य में सफल होगा, अपितु उन सभी को, जो बिना किसी पूर्वाग्रह के इसका अवलोकन करेगा, भरपूर लाभ देगा।

मेरठ (उत्तर प्रदेश)

दिनाँक : 31 अगस्त, 2012 ईस्वी। *पद्मश्री डॉ0 रवीन्द्र कुमार*

(पूर्व कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय)

प्रस्तावना

श्री भास्कर जैन, जैन नगर, मेरठ ने बार-बार मुझे कहा कि आपका मोक्ष मार्ग प्रवचन-ग्रंथ तो विशाल-विस्तृत, गूढ़ ज्ञान देने वाला है। नई पीढ़ी उसे पढ़कर पचा नहीं पाएगी। अतः जैन कुलों में जन्मे और जो भगवान् महावीर के धर्म-दर्शन की उत्कृष्टता-सर्वोपरिता से अपरिचित अजैन, दोनों के उपयोग के लिए, सरल शब्दों में एक लघु-ग्रंथ लिखें। ये इस मत के पक्के हैं कि भगवान् महावीर पूरे विश्व को ज्ञान प्रकाश देने वाले हैं। (लाइट ऑफ यूनीवर्स हैं) परन्तु अनुयायियों ने उन्हें विश्व के मानव समाज के सम्मुख प्रस्तुत ही नहीं किया। मुझे लगा, ऐसा करने हेतु ये कृत-संकल्प हैं, भिड़े हुए हैं।

मुझे भी लगता है कि ऐसे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी की वाणी को आचार्यों ने आचार-मर्यादाओं तक सीमित रख दिया। या बाह्य उपासना-पद्धतियों, तदर्थ भिन्न-भिन्न वेषों के माध्यम से कई मत पंथ-सम्प्रदायों में बंटकर अपने-अपने बाड़े में बांध दिया। फिर कैसे उनके अकाट्य, प्रामाणिक, वैज्ञानिक अवधारणों का ज्ञान विश्व को हो पाता !! जब भी वैज्ञानिक नई-नई खोजें करते हैं, तब हम कहते हैं, यह तो महावीर के आगमों में आया हुआ है। पहले, शोध कर-करवाकर प्रकट किया क्या ? नहीं।

श्री भास्कर जैन ने चाहा कि जैनत्व के मूलभूत सिद्धान्त, आत्मा, परमात्मा, लोक के संबंध में क्या हैं, सार-संक्षेप में दे दें। उसी प्रेरणा-विनिति से यह पुस्तिका मेरठ में ही लिखी। सरल शब्दावली, छोटे वाक्यों में, सरस शैली में, जिज्ञासा शान्त करने योग्य लेखन हो, ऐसा इन्होंने चाहा। प्रयास करते हुए भी मैं वैसा तो नहीं कर पाया। अतः इनके कथन पर एक शब्दकोष इसके अन्त में दिया है। इसमें आए तत्वों को पढ़ते-पढ़ते भी शास्त्रीय शब्दावली समझ में आ जाएगी। न समझ पाएं तो शब्दकोष देखें।

लघु ग्रंथ आपके हाथ में पहुंच रहा है। मूल्यांकन तो आप ही कर पाएंगे। यदि जैनत्व का मूल स्वरूप समझ में आ गया तो यह श्रम और सभी सहयोगियों का श्रम-व्यय सार्थक हो जाएगा।

'आमुख' लेखक की सद्भावना भी इस ग्रंथ की सार्थकता में जुड़ गई है।

उदयमुनि

卐 जय महावीर 卐 卐 जय सीमंधर 卐

।। श्री निहाल खूब फूल शान्ति गुरूभ्यो नमः ।।

महामन्त्र नवकार

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं

एसोपंच णमोक्कारो, सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।।

ग्रंथ में वर्णित विषय-वस्तु

पंचपरमेष्टी, देव-गुरु-धर्म, मिथ्यात्व-सम्यक्त्व, द्रव्य-गुण पर्याय और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, त्रिपदी, छः द्रव्य, छहों दर्शनों का तुलनात्मक विश्लेषण, जीव-अजीव का भेद विज्ञान, नवतत्वसार, कर्म सिद्धान्त, सप्त कुव्यसन और पाप-पुण्य से कर्म बंध, कर्म का कर्त्ता-भोक्ता-विकर्त्ता आत्मा है, आत्मा का स्वभाव-विभाव, निमित्त-उपादान, ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग और मुक्ति का उपाय, कर्मवाद-अकर्मवाद, पाँचवे आरे में मोक्ष कैसे-कितना? लिंग-वेष मोक्ष की साधना में मूल्यहीन।

जैनत्व क्या है?

14 पूर्वों का सार–नवकार

अरिहंतों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार।

ये पांच नमस्कार सर्वपापों का नाश करने वाले हैं। सबका मंगल करने वाले हैं, प्रथम मंगल हैं।

अरिहंत परमात्मा–जिन्होंने रागद्वेषादि समस्त शत्रुओं पर विजय पा ली। जिन्होंने ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर अनन्त ज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म का क्षय कर अनन्त दर्शन, मोहनीय कर्म का क्षय कर अनन्त सुख और अन्तराय कर्म का क्षय कर अनन्त वीर्य प्रकट कर लिया। राग-द्वेष को जीतकर परमवीतरागी हो गए। मोह को जीतकर परम निर्मोही हो गए। पांचों इन्द्रियों पर विजय कर जितेन्द्रिय हो गए। कषायों को पूर्णतः शान्त कर दिया। सदाकाल मात्र ज्ञाता-दृष्टा भाव में, आत्मा में ही लीन रहते हैं। आत्मा के ही अपूर्व आनन्द में मग्न रहते हैं। मन-वचन-काया होते हुए भी मनातीत, वचनातीत, कायातीत हो गए। इन्द्रियां होते हुए भी इन्द्रियातीत, परमं आत्मिक सुख में लीन रहते हैं। आत्मा के निज गुणों की घात (हानि) करने वाले घाती कर्मों का क्षय करने से नए कर्म का कोई कारण नहीं रहने से, पुनः जन्म-मरण नहीं करना है। शेष आयुष्य व्यतीत हो जाने पर, शेष अघाती कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब परिनिर्वाण को प्राप्त कर सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं।

जिन अरिहंत परमात्मा ने पूर्व किसी भव में तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म का बंध किया, उसके उदय में, उनके उपदेश से जीव (मनुष्य) सम्यक्त्व प्राप्त कर, कोई साधु, कोई साध्वी, कोई श्रावक, कोई श्राविका हो जाते हैं ऐसे चार तीर्थों के संस्थापक–संचालक तीर्थंकर होते हैं। ऐसे अरिहंत और उनसे बोधित जो संयमी अरिहंत बनते हैं, गुणों की दृष्टि से सभी सम-गुणी होते हैं। गुणों की अपेक्षा अरिहंत और सिद्ध परमात्माओं में कोई अन्तर नहीं होता। अरिहंत भाव-मोक्ष में हैं, सिद्ध द्रव्य और भाव मोक्ष में होते हैं। तीर्थंकर के चार आत्मिक गुण होते हैं और एक भामण्डल तथा शेष देवों द्वारा रचित सात, कुल आठ महाप्रातिहार्य, समोशरण में होते हैं। ऐसे 12 गुण कहे जाते हैं।

सिद्ध परमात्मा–अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, अटल अवगाहना, अमूर्तिक, अगुरुलघुत्व और क्षायिक सम्यक्त्व ऐसे आठ गुणों के धारक होते हैं। अनन्त काल तक बाधारहित (अव्याबाध) सुख में लीन रहते हैं। शरीर से रहित हो जाने से वे शुद्ध आत्मा अरूपी-अमूर्तिक कहलाते हैं, अब अवगाहना भी एकसी रहेगी। गुणों में न कमी होगी, न वृद्धि। अनन्त आत्मिक गुण प्रकट हो गए हैं।

आचार्य भगवन्त–तीर्थंकर के परिनिर्वाण पर तीर्थ या शासन के संचालक मार्गदर्शक आचार्य होते हैं। वे पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति के पालक, चारों कषायों के विजेता, पांच इन्द्रियों के विजेता, पंचाचार के पालन करने-कराने वाले और नौ वाड़ सहित ब्रह्मचर्य के पालक, ऐसे छत्तीस गुणों के धारक हैं सर्वतः गुप्त महर्षि, उत्कृष्ट उत्कट ज्ञानवान् (आगम ज्ञाता) प्रबुद्ध और आरंभ से सर्वतः विरत हैं। अन्तिम समाधि की अभिलाषा से परिव्रजन (विहरण) करते हैं। मोक्ष मार्ग के पथिक और प्रदर्शक होते हैं।

उपाध्याय भगवंत–11 अंग, 12 उपांग चरण सत्तरी, करण सत्तरी, ऐसे पच्चीस गुणों के धारक होते हैं। समस्त आगमों, शास्त्रों के रहस्य, मर्म को जानने वाले, सभी तीर्थवासियों को आगम ज्ञान से आत्मज्ञान-आत्मदर्शन करके आत्म चरित्र में ले जाने वाले होते हैं। उत्कृष्ट ज्ञानी, बहुश्रुत होते हैं।

साधु-साध्वी भगवंत–पांच महाव्रत, पांच समिति के पालक, ज्ञान सम्पन्न, दर्शन सम्पन्न, चारित्र सम्पन्न, क्षमावंत, वैरागयवंत, भाव सत्य, करण सत्य, योग सत्य से युक्त, मन समाधारणता, वचन समाधारणता, काय समाधारणता, चार कषायों के विजेता, वेदनीय समाधारणता, मारणान्तिक वेदनीय समाधारणता ऐसे सत्ताईस गुणों के धारक होते हैं।

ये पांचों परम इष्ट हैं, परम वन्दनीय हैं, परम पूजनीय हैं। इनका नाम लेने से, इनके आत्मिक गुणों का स्मरण करने से, इनकी गुण स्तुति, गुणगान करने से, स्तुतिकार के भी आत्मा के रागादि अवगुण नष्ट होते हैं, आत्मा के गुण प्रकट होते हैं, इसलिए इन्हें मंगलकारी कहा है, पाप का नाश करने वाला कहा है। इन पांचों परमेष्टियों के गुण कुल 108 होते हैं, अतः जब 108 मणकों की माला, इनका स्मरण करते हुए जपते हैं। इनके, सबके मिलाकर कहें तो अनन्त गुण हैं। अनन्त ज्ञान के धारक अरिहंत परमात्मा और सिद्ध परमात्मा हैं। उसी अनन्तता को प्रकट करने वाले शेष तीन पदवीधारी हैं, अतः यह नवकार 14 पूर्वों का सार कहा जाता

है। अरिहंत-तीर्थंकर परमात्मा के विशिष्ट अनन्त आत्मिक गुण-स्मरण स्तुति हेतु लोगस्स का पाठ है। अरिहंत और तीर्थंकर परमात्मा और अब वे सिद्ध हो गए, उन सिद्धों के अनन्त आत्मिक गुण स्मरण-गुणस्तुति के लिए नमोत्थुणं (शक्रस्तव) का पाठ है।

सम्यक्त्व प्राप्ति हेतु तीन तत्वों का श्रद्धान

प्रत्येक व्यक्ति जो जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्रतिपादित जिन–धर्म, जैन-धर्म पालने वाले कुल में जन्मा है या आ गया है, उसे मिथ्यात्व का नाशकर सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए तीन तत्वों की अटूट, अखंड, गाढ़, श्रद्धा होनी चाहिए।

(1) देव मेरे अरिहंत (2) गुरु मेरे निर्ग्रंथ और (3) धर्म मेरा केवलिप्ररूपित।

(1) देव अरिहंत–अरिहंत परमात्मा के आत्मिक गुणों को, स्वरूप को निर्ग्रंथ गुरु से समझकर पक्की मान्यता, अवधारणा करता है कि ये मेरे परम आराध्य हैं। देवाधिदेव अरिहंत परमात्मा के अतिरिक्त किसी भी देव, देवी को नहीं मानता, उन्हें वंदनीय, पूजनीय, अर्चनीय नहीं मानता। देवगति है। उसमें देवी-देवताओं का निवास है। उनके अस्तित्व से इंकार नहीं करता परन्तु उनसे कोई कामना-इच्छा-पूर्ति हेतु याचना-प्रार्थना नहीं करता। जीवों के सुख-दुख अपने-अपने पूर्वोपार्जित कर्म से मिलते हैं। उसमें देव-देवी कुछ भी परिवर्तन, आगे-पीछे करने में समर्थ नहीं होते हैं।

(2) गुरु मेरे निर्ग्रंथ–जिन्होंने राग-द्वेषादि गांठों को छिन्न-भिन्न कर दिया, वे निर्ग्रंथ गुरु हैं। तीर्थंकर महावीर की आज्ञा के अनुसार ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग पर तेजी से दौड़ रहे हैं। आत्म ज्ञान-आत्म दर्शन-आत्म समाधि में लीन रहते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन सेवन, परिग्रह, इन पांच पापों को तीन करण-तीन योग से पूर्ण परित्याग कर, पांच महाव्रतों का पालन करते हैं। उसमें अतिचार-दोष नहीं लगाते। असावधानी, भूल से लग जाए तो पश्चाताप-प्रतिक्रमण करते हैं। गमनागम में, बोलने में, आहार लाने में, वस्त्र-पात्रादि को उठाने-रखने में, शरीर से निकलने वाले उच्छिष्ट को परठने में इतनी सावधानी-विवेक रखते हैं कि किसी भी जीव की हिंसा-विराधना न हो जाए, किसी को क्लेश न पहुंचे। मन-वचन-काया पर अंकुश, नियंत्रण रखते, निग्रह करते हैं। मन-वचन-काया की प्रवृत्ति से परे हो, निवृत्त हो, आत्मगुप्त होते हैं। क्रोध-मान-माया-लोभ रूप कषायों को उपशान्त करते हैं। मन, वचन, काया में समता धारण करते हैं। वेदना,

मारणांतिक वेदना, कष्ट, कोई उपसर्ग आ जाए तो भी विचलित नहीं होते। आत्मध्यान में लीन रहते हैं। समाधारणता करते हैं। निरन्तर स्वाध्याय-ध्यान में लीन रहते हैं। संसार के प्रपंचों-जंजालों से पूर्णतः परे रहते हैं। चतुर्गतिरूप संसार-सागर से स्वयं भी तिरते हैं और अन्य साधकों को भी वही उपाय बताते हैं, वे भी तिर जाएं।

निर्ग्रंथ गुरु में आचार्य भगवंतों, उपाध्याय भगवंतों, साधु-साध्वी भगवंतों, तीनों का समावेश हो जाता है। संसार-सागर से पार उतर जाने की तीव्र उत्कंठा वाला, मुमुक्षु, आत्म-तत्व समझने-पा जाने का जिज्ञासु ऐसे सब निर्ग्रंथ गुरुओं को, अपना गुरु मानता है। जिससे आत्मावबोध का विशिष्ट आत्मलाभ हुआ, उनका विशिष्ट उपकार मानता है। परन्तु ऐसे निर्ग्रंथ दशा, साधुता, मुनित्व जिन्हें प्राप्त हुई, सभी को परम वंदनीय-पूजनीय-अर्चनीय मानता है। ऐसे निर्ग्रंथ गुरुओं के अतिरिक्त किसी को गुरु नहीं मानता। भगवान् महावीर के धर्म में, आचार-मर्यादाओं-बाह्य व्यवस्थाओं की दृष्टि से मत, पंथ, गच्छ, सम्प्रदायें हैं। मुमुक्षु साधक यह मानता है कि चाहे वे संयामी किसी भी मत, पंथ, गच्छ, आम्नाय, संप्रदाय में हों, साधुता के गुणों को, मुनित्व को नमस्कार है-वंदना है। सभी निर्ग्रंथ गुरु मेरे गुरु हैं।

(3) धर्म मेरा केवलिप्ररूपित–केवल ज्ञान-केवल दर्शन के धारक तीर्थंकर परमात्मा ने जो मोक्ष का मार्ग प्ररूपित किया, वह है आत्मा की शुद्धता प्रकट हो जाना। जिससे समस्त रागादि विकार मिट जाएं, मेरा निर्विकारी स्वरूप प्रकट हो जाए, वीतरागता प्रकट हो जाए, परम वीतरागी मैं भी हो जाऊं, ऐसा धर्म प्रतिपादित किया। राग आदि समस्त पाप, विकारी भाव मन्द होते-होते समाप्त हो जाएं, वही सत्य धर्म है। साधक यह मानता है कि देव मेरे अरिहंत परमवीतरागी हैं, गुरु मेरे वीतरागी हैं, उनके द्वारा कहा हुआ, प्रतिपादित, प्ररूपित धर्म भी वीतरागता है। रागादि सभी अधर्म हैं, हेय हैं। करने योग्य, आचरने योग्य नहीं हैं। इनमें समस्त जीवों के प्रति दया, करूणा, अनुकम्पा-रूप, अहिंसा, अस्तेय, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का समावेश हो गया। वीतरागता धर्म में क्रोध-मान-माया-लोभ की शान्तता आ गई। इसमें राग-द्वेष-मोह-रति-अरति का शमन कर उन पर विजय आ गई। ऐसा वीतराग धर्म ही मेरा धर्म है। उसी को प्रकट करने का मेरा परम लक्ष्य है। अब मेरा आत्म-पुरुषार्थ उसी लक्ष्य से होगा।

ये तत्व, इनका स्वरूप जब निर्ग्रंथ-सद्गुरु से समझता है। इन पर पक्की

श्रद्धा होती है, इन्हीं में रुचि होती है, यह विनिश्चय होता है कि ये तीन तत्व ही सारभूत हैं, शेष सब निस्सार हैं, गाढ़-अवगाढ़ श्रद्धा ऐसी होती है कि बस मैं इन्हीं को मानूंगा, लेशमात्र भी विचलित नहीं होऊंगा, चाहे कितना ही संकट आ जाए, आपदा-विपदा आ जाए, ये ही मेरे आदर्श हैं, उनमें ही रमे, न डिगे तब कहा जाता है कि मिथ्या मान्यता टूटी, मान्यता सम्यक् हो गई, वही सम्यक्त्व कहलाती है। जिसे ऐसी सम्यक्त्व या समकित हो गई उसकी दुर्गति नहीं होती। तिर्यंच और नरक गति में नहीं जाता। गति-भ्रमण नहीं होता। शीघ्र मोक्ष हो जाता है। ऐसा सम्यक्त्व का महत्व है।

वैसे तो उक्त से स्पष्ट है, फिर भी आज प्रचलित 'गुरु आम्नाय' कर लेना सम्यक्त्व नहीं है। जिन निर्ग्रंथ गुरुदेव से मैं आत्मबोध पाता हूँ, देव-गुरु धर्म का स्वरूप समझता हूँ, आत्मा और शरीर की भिन्नता, मोक्ष-मार्ग और संसार मार्ग का अन्तर समझता हूँ, मुझे कर्म बंध किससे होता है, वह कैसे रुकता है, वह कैसे समाप्त होता है, ऐसी समझ पक्की करता हूँ, आत्मज्ञान-आत्मदर्शन पाता हूँ, उनका परम उपकार मानता हूँ। वे मेरे धर्म-गुरु, धर्माचार्य हैं। यह भी कह सकता हूं परन्तु समस्त निर्ग्रंथ-गुरुओं को भी परम वंदनीय-पूजनीय, अर्चनीय मानता हूं। यदि वे एक गुरु, या उनकी सम्प्रदाय के साधु-साध्वी तो मेरे लिए वंदनीय-पूजनीय और अन्य की मात्र सेवा, तो अन्य समस्त निर्ग्रंथ-गुरुओं-ज्ञानियों-रत्नत्रयधर्म आराधकों का अविनय हो जाएगा, उनकी अशातना हो जाएगी। कभी वैर-वैमनस्य भी पनप जाएगा तो मेरा अनर्थ हो जाएगा, ऐसा मानें। सम्यक्त्वी साधक की गुणदृष्टि होनी चाहिए। जहां भी मिलें, ग्रहण करने में न चूकें। अपने आत्मिक गुणों के प्रकट करने हेतु गुण दृष्टि रखें, सम्यक्त्वी अपने अवगुण प्रकट करता है, अन्य के गुण प्रकट करता है, उनका गुणस्तुति, गुणगान करने से स्वयं आत्मा के गुण प्रकट होते जाते हैं।

मिथ्यात्व किसे कहा?

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देव, गुरु और धर्म का जो वास्तविक-पारमार्थिक स्वरूप तीर्थंकर परमात्मा, मेरे निर्ग्रंथ गुरु ने फरमाया, वैसा नहीं मानना, उल्टा मानना, मिथ्या मानना है। कुदेवादि को देव माने, कुगुरु को सद्‌गुरु माने, कुधर्म को सद्‌धर्म माने तो मिथ्यात्व है।

दूसरी अपेक्षा से, आत्मा के स्वरूप को न जाने, न समझे और यह शरीर मैं हूं, यह शरीर मेरा है, इस शरीर से जुड़े हुए परिजन मेरे हैं, इस शरीर या उसकी

पूर्ति के लिए, इन्द्रिय विषयों के लिए जुड़ा धन-वैभव मेरा है, इन्द्रिय-विषयों की पूर्ति को ही एकमात्र लक्ष्य माने, इन्द्रिय-विषयों में ही सुख माने, इनकी पूर्ति ही धर्म माने, इसे ही जीवन माने, परिवार का कार्य करना कर्त्तव्य-दायित्व-उत्तरदायित्व-धर्म माने तो वह मिथ्यात्व है। यही अनन्त कर्म का बंध कराने वाला, अनन्त जन्म-मरण के अनन्त दुखों वाला, अनन्तानुबंधी कर्म का कारण है।

कर्त्तव्य, दायित्व, उत्तरदायित्व, अनिवार्य, अपरिहार्य, उपादेय, धर्म आदि को समानार्थक मानें। ऐसा मानना मोह से होता है। इस मोहराग में राग-रति-आसक्ति-विषयेच्छा-भोगेच्छा आदि आभ्यांतर में जुड़े हुए हैं। उसी से समस्त आरंभ-समारंभ में जाता है। उसमें हिंसादि कई पापों का आ जाना होता है। उसी में रुचि पड़ जाती है। ये सभी वीतरागवाणी श्रवण में बाधक बन जाते हैं। उसे हटाए बिना वाणी-श्रवण भी नहीं होता। फिर तत्वों के सम्यक् स्वरूप को भी नहीं समझ पाता, उसी से तो मिथ्यात्व पनपता है और अनन्त कर्मबंध हो जाता है।

वस्तुतः ये कभी मेरे हुए नहीं, होते नहीं, होंगे नहीं। जिसे प्राणों से अधिक मान रखा था, उसका या मेरा यह शरीर छूटा कि सब विस्मृत। पूर्व में ऐसे कितने प्रियजन, परमप्रिय से जुड़े, क्या आज याद है? नहीं है। तो ये भी ऐसे ही भूल-भुला जाएंगे। ये सभी मिलते-बिछुड़ते हैं। इन्हें संयोगी कहा है। जिसका संयोग होता है, उसका वियोग निश्चित है, न जाने किस क्षण हो जाए। ऐसे संयोगी को, क्षणभंगुर को, अनित्य को अपना मानना और अपने आपको, आत्मा को भूले बैठे रहना मिथ्यात्व है। यह नकारात्मक कथन से हुआ।

सकारात्मक क्या है? मैं इन सब संयोगियों से भिन्न आत्मा हूं। बाह्य में परिचय करना-रखना हो तो इन पंच परमेष्टियों से करना-रखना। आभ्यांतर में अपने आपसे परिचय करना, अपने आपको पहचानना। जब तक स्वयं, स्वयं को न जाने-पहचाने और बाह्य शरीरादि समस्त को अपना जाने-पहचाने तब तक मिथ्यात्व है। जब यह जाने-माने कि मैं शरीरादि समस्त संयोगियों से पूर्णतः भिन्न आत्मा हूं, तब मिथ्यात्व से सम्यक्त्व में आ गया, ऐसा कहेंगे, अज्ञान से ज्ञान में आ गया। इसे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन भी कहते हैं।

जिसका वस्तुतः जैसा स्वरूप है, वैसा मानना-जानना वही सम्यक् है। उसी से सम्यक्त्व शब्द बना है। **आत्मा को शरीर रूप मानना, शरीर को आत्मारूप-स्वरूप-मेरा रूप मानना, दोनों को एकमेक, एक ही मानना मिथ्यात्व है। दोनों पूर्णतः भिन्न-भिन्न हैं ऐसा मानना सम्यक्त्व है।**

जीव और अजीव को, आत्मा और शरीर को, चेतन और अचेतन पुद्गल को एक ही मानना मिथ्यात्व और इनको पृथक-पृथक मानना सम्यक्त्व है। **किसे कहा जीवाजीव का भेद विज्ञान?**

द्रव्य, गुण, पर्यायों का समूह है–जीव एक द्रव्य है। जीव एक तत्व भी है। प्रथम जीव द्रव्य से अन्य द्रव्यों की तुलना करके भिन्नता, अन्तर, भेद समझें। द्रव्य किसे कहें? गुण और पर्यायों के समूह को द्रव्य कहा। गुण, विलक्षणता, विशेषता, लक्षण एकार्थक मानो। कई द्रव्य हैं। एक द्रव्य में कई अनन्त गुण होते हैं। उदाहरण–मिश्री में मिठास, अग्नि में उष्णता, पानी में शीतलता, मिर्ची में चरकास, नमक में खारास इनके अपने-अपने गुण हैं। मिश्री में कड़ापन, सफेदी, डलीरूप, मिठास आदि गुण हैं। इन गुणों के समूहरूप मिश्री एक द्रव्य है। गुण-गुणी में एकता है। समझने के लिए कहें–यह गुण है, यह द्रव्य है। किसी भी द्रव्य के गुण सदा एक जैसे नहीं रहते। प्रतिपल, क्षण, प्रति समय बदलते रहते हैं। जो गुण का स्वरूप बदला, उसे पर्याय कहते हैं।

मिट्टी एक द्रव्य है। उसको छान-पानी के साथ गूंधकर लोंदा बनाया। उसे अब लोंदा कहा। मिट्टी का पर्याय है। फिर उसे कुम्भकार चाक पर रखकर डंडा घुमाता है, हटाता है, मिट्टी पर उंगलियाँ जमाता है, लोंदे ने थोड़ा आकार बदला, फिर कुछ घड़े जैसा आकार बना, फिर सुघड़ आकार बना, दिखा घड़ा है। डोरे से काटकर अलग किया। सुखाया थोड़ा फिर थाप-थूपकर देखा एक सुघड़ घड़ा स्पष्ट दिखा। लोंदे रूप पर्याय नष्ट हुआ, घड़े रूप नए पर्याय ने जन्म लिया। मिट्टी रूप सबमें है, वह ध्रुव द्रव्य मिट्टी, उसमें उत्पाद-व्यय निरन्तर होता दिखा।

छः द्रव्योंमय लोक है : छः द्रव्यों का स्वरूप

ऐसे सदा-सदा के लिए–ध्रुव रहने वाले छः द्रव्य हैं। (1) **धर्मास्तिकाय** = जीव और पुद्गल को गमन करने में सहायता देने वाला। गमन (जाना-आना) की शक्ति तो इन दोनों द्रव्यों में ही है, धर्मास्तिकाय वह शक्ति नहीं देता, चलाता नहीं पर उनके चलने में निमित्त बनता है। मछली पानी में अपनी सहज-स्वाभाविक शक्ति से तैरती है परन्तु पानी के निमित्त मिलने पर ही। (2) **अधर्मास्तिकाय** = जीव और पुद्गल रुकना चाहें तो उसमें सहायक बनता है। राहगीर चलते-चलते, पेड़ आ गया, छाया दिखी, रुक गया, रुकने में, हाथ ऊपर उठाया, उसे रोकना है,

अधर्मास्तिकाय की सहायता से रुकेगा। (3) **आकास्तिकाय** = सभी द्रव्यों, स्वयं को भी स्थान देता है, ठहरने, अवकाश देने, अवगाहन करने हेतु सहायता देता है। (4) **काल** = जीव और पुद्गल जब अपने गुण में पर्यायान्तर करता है, पर्याय (अवस्था) बदलती है, उसे दिग्दर्शित करने वाला, बताने वाला काल द्रव्य है। पुस्तक का पन्ना सफेद-मजबूत था। कुछ समय बाद पीला पड़ने लगता है, हाथ लगाओ तो टूटने लगता है। काल बताता है यह इतना पुराना हो गया है। इतने घंटे, मिनट निकल गए, गणना काल के सहारे होती है। (5) **पुद्गलास्तिकाय** = ऊपर जितनी वस्तुएं आई, वे पुद्गल हैं। जिसमें निरन्तर पूरण-गलन हो, जिसमें निरन्तर सड़न-गलन हो, उत्पाद-व्यय हो, मिलना-बिछुड़ना हो उसे पुद्गल कहा। जिसमें वर्ण = रंग-गंध-रस-स्पर्श नाम के गुण हों उसे पुद्गल कहा। इसका पर्यायवाची शब्द नहीं है। फिर भी पदार्थ, वस्तु, मेटर, मटीरियल कहकर समझ सकते हैं। (6) **जीवास्तिकाय** = जिसमें जीवत्व हो, प्राण हो, श्वास-उच्छवास लेता हो, जिसमें चेतना हो, जिसमें उपयोग हो, जिसमें जानने-देखने-अनुभव करने के गुण हों।

ये छहों द्रव्य मिलकर ही लोक (सृष्टि, संसार) कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य को सदा शाश्वत कहा। शाश्वत, ध्रुव, नित्य, त्रैकालिक कहा। अनादि से है, अनन्त काल तक रहेगा। अतः लोक भी, इन्हीं का मिला रूप है तो त्रैकालिक, शाश्वत कहा। पूर्व में दृष्टांत दिया, द्रव्य है तो उसमें गुण हैं, द्रव्य की अवस्था बदलती है तो पर्याय कहलाती है। द्रव्य तो, गुण तो ध्रुव हैं पर गुणों में जो परिवर्तन आया, वह पर्याय भी द्रव्य का है। छहों द्रव्य ध्रुव हैं पर गुणों में अन्तर पड़ा, थोड़ा शास्त्रीय शब्द लें–गुणों में निरन्तर नया-नया परिणमन हो रहा है। अतः द्रव्य को महावीर 'परिणामी नित्य' कहते हैं। नित्य भी, परिणमनशील भी।

द्रव्य परिणामी-नित्य है : त्रिपदी

उत्पाद-व्यय-ध्रुवता–पहले पुद्गल द्रव्य से समझें। उसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नाम के गुण हैं। पकने योग्य कच्ची केरी लाएं। वर्ण हरा है, गंध कुछ खट्टी जैसी है, रस खट्टा है। स्पर्श कड़ा है। प्रक्रिया की, पकाया। वर्ण हरा था–बदलकर पीला हो गया, गंध सुगंध में बदली, खट्टे के स्थान पर मीठा स्वाद हो गया। स्पर्श कड़े से मुलायम हुआ। गुण सभी हैं, गुणों का समूह द्रव्य केरी भी है। (कहेंगे–आम, पका आम) गुणों में प्रतिपल बदलता ही रहा है। प्रति समय नई-नई पर्याय बन रही-प्रकट हो रही है। इसे जैन दर्शन में त्रिपदी कहा। हरी पर्याय से पीली पर्याय हो

गई हरी पर्याय का चला जाना, पीली पर्याय हो जाना, हरी पर्याय का नाश, शास्त्रीय शब्द, व्यय हो गया, तभी, तत्क्षण पीली पर्याय का जन्म हुआ। द्रव्य हर अवस्था में है। इसे कहा–उत्पाद, व्यय, ध्रुवता।

द्रव्य है, तो उसमें गुण हैं, उसी में पर्याय प्रति समय नई-नई हो रही हैं, सो त्रिपदी हुई–द्रव्य, गुण, पर्याय।

षट्दर्शन

छः द्रव्यों के संदर्भ से भगवान् महावीर के दर्शन और भारत के मुख्य अन्य दर्शनों-दार्शनिकों को समझना है।

(1) वैदिक दर्शन (वेदान्त) इसमें माना जाता है कि एक सर्वशक्तिमान ईश्वर (परमेश्वर, परमात्मा) है जिसमें ऐसी शक्ति है कि वह इस लोक (सृष्टि) की रचना करे, चलाए, नष्ट करे। फिर रचे, चलाए, नष्ट करे। सदा काल से वह ऐसा करता-करवाता आ रहा है, सदा ऐसा करता रहेगा। शास्त्रीय शब्द लें–वह ईश्वर इस सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता है। उसके तीन प्रतिनिधि हैं। ब्रह्मा रचना करता है, विष्णु पोषण करता है और शिव संहार करता है।

अन्तर समझें–भगवान ने कहा–**लोक शाश्वत है, छहों द्रव्य शाश्वत हैं।** मैं भी। मुख्य दो गिनें–पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारे आदि को पुद्गल गिनें। इनमें बसे को जीव गिनें दोनों को संख्या में अनन्त कहा। जीव कुल कितने? एक-एक गिनते-गिनते इतनी संख्या में कि अन्त ही नहीं आए। सभी अनादि से हैं, अनन्त काल तक रहेंगे। यदि इन्हें बनाने वाला ईश्वर है, तो प्रश्न खड़ा होगा, उसे किसी ने बनाया होगा। यदि कहें कि वह अनादि से है, अनन्त काल तक रहेगा तो महावीर ने कहा मैं भी अनादि से हूं, अनन्त काल तक रहूंगा। एक ईश्वर ऐसा हो सकता है तो अनन्त जीव ऐसे हो सकते हैं, महावीर ने जाना-देखा-अनादि से हैं, अनन्त काल तक रहेंगे।

यदि उसके पास ऐसी शक्ति है तो महावीर कहते हैं, मुझमें भी है। मैं भी रागादि विकार भाव करके कर्म बांधता हूं, उनके फलस्वरूप मेरी सृष्टि की रचना हुई। मैं ही उसका पोषण करता हूं। मैं ही चाहूं तो उस चतुर्गतिरूप सृष्टि (संसार) का नाश कर शिव रूप, शुद्ध आत्मा, परमात्मा हो जाता हूं। **मैं ही मेरा ब्रह्मा, मैं ही मेरा विष्णु, मैं ही मेरा शिव, अन्य कोई नहीं।**

स्व-संचालित सृष्टि–महावीर का मत है, सब व्यवस्थित रूप से

स्व-संचालित है। वैज्ञानिक मानते हें कि एक अणु की नाभिकीय होती है। उसके चारों ओर इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन, प्रोटॉन आदि स्वतः निरन्तर संचरण करते रहते हैं। अनन्त परमाणुओं में यह संचरण करवाने वाला कोई ईश्वर कैसे हो सकता है। वेदान्ती मानते हैं कि निरंजन, निराकार, निराकुल, एक परम विशुद्ध परमात्मा है। उस निरंजन को इस सृष्टि को रचकर रंजन, मनोरंजन करने की इच्छा कैसे होगी? किसी को सुख, किसी को दुख, प्रसन्न हो जाए वह तो स्वर्ग, रुष्ट हो जाए तो नरक में भेज दे, तब तो इतनी जाल-जंजाल-प्रपंच पालने वाला वह एक सामान्य मनुष्य हुआ। एक गृहस्थी का प्रपंच भी दुखदायी है तो अनन्त जीवों के प्रपंच को लेकर दुखी होने वाला ईश्वर, परम सुखी, निराकुल कैसे हो सकता है? नहीं है।

महावीर आस्तिक हैं–वेदों में, ईश्वर में, आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखने वाला आस्तिक अन्यथा नास्तिक (न + अस्ति) माना, वेदान्तियों ने। महावीर ज्ञान के सागर रूप आत्मा और परम विशुद्ध हो जाने वाली उसी आत्मा, परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं, मानते हैं, पूरे आस्तिक धर्म को मानने वाले हैं।

आत्मा ही परमात्मा–ऐसा उद्घोष करने वाले, आत्मा की ऐसी परम शक्ति बताने वाले, जगाने वाले विश्व में एकमात्र दार्शनिक, धर्मवेत्ता महावीर हैं। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा हो जाने की शक्ति है। वह उसी के अज्ञान, मिथ्यात्व और मिथ्या-मोह आदि से दबी पड़ी है अतः वह संसार में, चारों गतियों में परिभ्रमण करके जन्म-मरण से स्वयं दुखी है। ज्ञानी की वाणी सुनकर चेत जाए तो सर्व विकारी भावों से रहित हो, सर्व कर्मों से रहित हो, शरीरादि से परे शुद्ध परमात्मा, सिद्धात्मा हो जाता है। उसका फिर चतुर्गतिभ्रमण–उसका दुख मिट जाता है। सदा शाश्वत आत्मिक आनंद में मग्न रहते, उसे पुनः जन्म नहीं लेना, कर्म नहीं तो शरीर नहीं, जन्म-मरण नहीं।

महावीर अवतारवाद नहीं मानते–ईश्वर को सृष्टि के भले लोगों का दुख मिटाने, दुष्टों का दमन करना, राक्षसों को मारने हेतु पुनः जन्म लेने, युद्ध-महायुद्ध कर करके संहार करने के महापाप, किसी पर प्रसन्न किसी से रुष्ट हो दमन करने की आवश्यकता नहीं है। अत्याचार-अनाचार-अराजकता आदि फैलने पर मनुष्यों में से कोई सुव्यवस्था, शांति स्थापना हेतु पुरुषार्थ करता है तो मनुष्यों के लिए वह महामानव महान् आत्मा अवतारी पुरुष, फिर परमात्मा बन जाता है।

कर्मानुसार सुख-दुख–ईश्वरवादियों में कुछ ये भी मानते हैं कि ईश्वर भी जीवों को सुख-दुख उनके कर्मानुसार देता है। महावीर कहते हैं–अनन्त जीव हैं,

एक ही जीव के एक-एक पल में, पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ भाव होते हैं, ऐसी कोई शक्ति नहीं हो सकती कि इतना ब्यौरा रखकर न्याय कर सुख-दुख दे। वस्तुतः जीवों को सुख-दुख देने वाला कोई ईश्वर नहीं, कोई देवी-देवता नहीं, स्वयं उसके पूर्वोपार्जित कर्म ही कारण है। उसका फल देने वाला कोई भी व्यक्ति आ जाएगा। प्रकृति निमित बने, ठोकर खाकर हड्डी टूटी-दुख हुआ, मर गया, क्या पत्थर ईश्वर है? क्या उसे किसी ईश्वर ने रखा-रखवाया? नहीं, सब स्व-संचालित है।

(2) सांख्य दर्शन–द्रव्य की ध्रुवता मानी पर उत्पाद-व्यय नहीं आत्मा नित्य है, ध्रुव, शाश्वत है, सदाकाल एक जैसा रहने वाला आत्मा, सदाकाल शुद्ध, निर्मल, निर्विकारी रहता है। उस शुद्ध आत्मा में विकार, अशुद्धि नहीं होती। अशुद्धि, विकार प्रकृति में होती है। पच्चीस तत्व हैं। पांच महाभूत, पांच इन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच तन्मात्रा, चित्त, मन, बुद्धि, अहंकार और पच्चीसवां पुरुष (आत्मा) है। विकार सब इन शेष 24 में होते हैं। पुरुष (आत्मा) तो सदा निर्मल निर्विकारी ही रहता है। विकार उसका स्वभाव या गुण नहीं है। ऐसे गीतावादी, सांख्यवादी होते हैं।

द्रव्य के स्वरूप-विवेचन में ऊपर आया-द्रव्य ध्रुव है। आत्मा को ध्रुव (अजन्मा) तो माना पर उसमें परिणमन, उत्पाद-व्यय को नहीं माना। वह प्रकृति में माना, आत्मा अछूता है।

महावीर कहते हैं, हे सांख्यमती, आप सत्य कहते हैं, आत्मा का स्वभाव तो निराकुल, निर्विकार, शुद्ध ही है परन्तु यह भी सत्य है कि क्रोध आदि विकार भाव भी आत्मा के ही हैं। जड़ प्रकृति में क्रोध कैसे हो सकता है? संसारी अवस्था में ये चौबीस आत्मा से जुड़े हुए हैं, इन संयोगियों के निमित्त कारण से या इनसे विकार भी आत्मा ही करता है। जिस क्षण उसे ज्ञानी की वाणी से पक्का हो जाए कि मेरा स्वरूप निर्विकारी, निर्मल, शुद्ध है, विकार मेरा स्वभाव नहीं, फिर शरीरादि पर-द्रव्य, पर-पदार्थ के कारण, कर्मरूप-पर-पदार्थ के फल में विकारग्रस्त हो जाता हूं वह मेरा नहीं, पर-भाव है, वहीं उससे परे हट स्वभाव, अपने सहज भाव, ज्ञाता-द्रष्टाभाव में आ जाता है, उसी में निरन्तर टिक जाए तो परम शुद्ध हो, परमात्मा बन जाता है।

त्रिपदी में, सांख्यमती द्रव्य की ध्रुवता मानते हैं परन्तु उसके ज्ञानादि गुणों में कोई उत्पाद-व्यय नहीं मानते। कभी ज्ञान गुण, अज्ञान में परिणमन करता है, श्रद्धा गुण शरीरादि मेरे हैं ऐसी श्रद्धा, विपरीत श्रद्धा करवाता है। चारित्र गुण मिथ्या

मोहादि का विपरीत परिणाम करता है। यह गुणों में उत्पाद-व्यय, उसी द्रव्य में होता है। ऐसा मानो। महावीर के प्रथम गणधर, सभी गणधर, शिष्यों सहित सांख्यमत मानते थे। द्रव्य की ध्रुवता (शुद्ध निर्मल-निर्विकारी) के स्थान पर वर्तमान में रागादि विकार भी आत्मा में होते हैं (मुझमें होते हैं) ऐसी जरासी भूल सुधरी कि संयम लेकर वस्तुतः जैसा आत्मा का स्वभाव है, वैसे परम शुद्ध परमात्मा हो गए।

(3) बौद्ध दर्शन–उत्पाद-व्यय माना पर द्रव्य की ध्रुवता नहीं मानी–गौतम बुद्ध इसके प्रणेता हैं। प्रमुख मानने वाले हैं। वे आत्मा को मानते हैं परन्तु वह नित्य, शाश्वत, सदाकाल स्थायी ध्रुव है ऐसा नहीं मानते। देखें–सांख्यमती ध्रुवता मानते हैं परन्तु उत्पाद-व्यय नहीं मानते। गौतम बुद्ध उत्पाद-व्यय मानते हैं, जन्म-मरण मानते हैं, कर्म, कर्मफल मानते हैं पर वे किसी ध्रुव तत्व-द्रव्य में होते हैं, ऐसा नहीं मानते हैं।

वे मानते हैं कि चित्त था अतः उत्पन्न हुआ। आत्म-सन्तति है पर नित्य आत्मा नहीं है। पूर्व सन्तति अपने उस भव के समस्त शुभ या अशुभ संस्कार, नई सन्तति को देकर नष्ट हो जाती है। नई सन्तति, पूर्व सन्तति नहीं है। है भी, क्योंकि उसी के समस्त संग्रहित-संचित संस्कार (विकार, कर्म) इस नई सन्तति में हैं।

गौतम बुद्ध मध्यमार्गी थे। आत्मा-परमात्मा-सृष्टि की आदि, अन्त, संचालक है या नहीं, इन प्रश्नों पर उत्तर नहीं दिए। उन्हें वेदान्तियों द्वारा मान्य सर्वान्तरयामी ईश्वर परमात्मा या सब कुछ जानने वाला कोई ध्रुव आत्मा है, यह भी मान्य नहीं था और चार्वाकवादियों का उच्छेदवाद भी मान्य नहीं था। चार्वाकवादी मानते थे कि प्रत्येक आत्मा शरीर के साथ ही जन्म लेती है, शरीर के नाश होते ही वह भी नष्ट हो जाती है, सर्वथा उच्छेद यह नहीं जंचा। दोनों मान्य नहीं थे। आत्मा शाश्वत भी नहीं है, सर्वथा नष्ट होना भी नहीं माना उसे कहा–अशाश्वतानुच्छेदवाद।

वे मानते थे कि कर्म है, कर्मफल (विपाक) भी है। सुख-दुख है। जन्म-मरण है परन्तु वे सब किसी ध्रुव द्रव्य में होते हैं, उस ध्रुव आत्मा को नहीं मानते उत्पाद-व्यय माना। ध्रुवता नहीं मानी। नई सन्तति का जन्म (उत्पाद) तभी पूर्व सन्तति का नाश, व्यय तो माना पर जिसमें यह उत्पाद-व्यय निरन्तर हो रहा है, महावीर कहते हैं, उस ध्रुव आत्मद्रव्य को भी मानो।

महावीर ने माना–अनन्त आत्माएं, प्रत्येक समान आत्मिक गुणों से युक्त स्वतंत्र-पृथक अस्तित्व वाली आत्मा है। अपने कर्म से मैं मनुष्य गति (या भव) में हूं।

पूर्व में किसी गति में (भव में) था। पुनः नया भव, नई गति मेरे कर्मानुसार होगी। पूर्व भव का नाश, व्यय हुआ। उसी क्षण नए भव में आया-उत्पाद हुआ। इसका भी व्यय निश्चित है, पुनः मानो देवभव में उत्पाद है। ये उत्पाद-व्यय भी निरन्तर मुझमें हो रहे हैं। प्रत्येक में मैं एक ध्रुव आत्मा वही का वही।

(4) चार्वाक दर्शन–खाओ-पीओ-मौज करो–इसके प्रणेता आचार्य वृहस्पति कहे जाते हैं। पांच तत्व या पाँच महाभूत हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश के एक निश्चित समानुपात में माता-पिता के संयोग से एक शरीर का जन्म होता है। उसी में एक शक्ति, ऊर्जा, उत्पन्न हो जाती है जिससे वह जानता, देखता, खाता-पीता, खेलता-कूदता, अनुभव करता है। चाहे उसे जीव कहो, आत्मा कहो। जब इन पांचों में असन्तुलन होता है तो बिखर जाते हैं, पांचों तत्व, पांचों महाभूत पुनः उस विराट में विलीन हो जाते हैं। शरीर की उत्पत्ति पर आत्मा उत्पन्न हुई। शरीर के नाश पर वह भी नष्ट हुई, न तो पूर्व में कोई आत्मा थी, न कोई बाद में रहती है। प्रत्येक नई-नई आत्माएं, बार-बार उत्पन्न होती और मर जाती हैं। न पूर्व जन्म है, न पश्चात जन्म है। न कोई आत्मा बची जिसे स्वर्ग में जा खूब सुख या नरक में जा दुख भोगने हैं। स्वर्ग-नरक नहीं हैं। जो कुछ है बस यहीं है, बस यही भव है, अतः खूब खाओ, खूब पीओ, मौज उड़ाओ। ''यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा धृतं पीवेत।'' जब तक जीओ, सुख से जीओ, चाहे ऋण करना पड़े, घी पीओ। क्योंकि आगे-पीछे कुछ नहीं है, मृत्यु के बाद न कोई स्वर्गगामी आत्मा है, न कोई नरकगामी आत्मा है। बस यह जो वर्तमान जीवन है, वह है, अतः कुछ भी, कोई भी काम करो, इस जीवन को सुखमय बना लो।

आत्मा, परमात्मा, कर्म, कर्मफल, उसे भोगने हेतु स्वर्ग-नरक सबको नकारने वाले **घोर नास्तिकवादी** चार्वाकवादी कहलाए। पूर्व में सभी अस्तित्ववादी धर्म प्रवर्तकों ने उसे कोसा, अमान्य किया परन्तु वह अन्दर तक ऐसा गहरा जमा रहा कि आज के भौतिकवादी, भोगवादी, वैज्ञानिक, औद्योगिक-क्रान्तिवादी युग में खूब फल-फूल रहा है। आस्तिकवादी धर्म-दर्शनों के मानने वालों की आगे की पीढ़ी, भौतिक उन्नति में इतनी चौंधियाई हुई है कि उन्हें अब प्रमाण न होने से, आत्मा-परमात्मा-कर्म-कर्मफल, पुण्य-पाप के भारी फल, भोग स्थान स्वर्ग-नरक पर विश्वास नहीं है। खूब पढ़ो-लिखो, ऊंचे-ऊंचे पदों पर पहुंचो, ऊंचे, बड़े-बड़े व्यापारी व्यवसायी-उद्योगपति आदि बन खूब कमाओ, खूब खाओ, खूब छककर भोग भोगो और मौज उड़ाओ। इस आकर्षक चार्वाकवाद का साम्राज्य कितना

व्यापक हो गया कि आज दीन निर्धन मजदूर से लगाकर करोड़-अरबपति, सभी माता-पिता, शिक्षक, शिक्षाशास्त्री, शिक्षण-संगठन-संस्थाएँ, सामाजिक संगठन, धार्मिक संघ, राजनैतिक दल, इनके नेता, वैज्ञानिक, राजनेता, राज्य-सरकार, डॉक्टर, अभियांत्रिक, कानूनज्ञ, न्यायाधीश आदि जो विद्या, कला, कार्य-प्रवृत्ति में लगा है, उनके लक्ष्य में मात्र मनुष्य, मनुष्यों के भी अपने-अपने समूह का यह वर्तमान जीवन सुखी हो जाय, इसी में सभी अपनी सफलता मानते हैं। यह भोगवादी, पांचों इन्द्रियों के विषयों को छककर जी भरकर खूब भोगने की महत्वाकांक्षा, तमन्ना रखने वाला भोगवादी युग, भोगवादी संस्कृति पनपी है। दिन-पर-दिन सुरसावत बढ़ रही है, आवश्यकता-पूर्ति में वैज्ञानिक आविष्कारों ने भारी क्रान्ति की है। वर्तमान मनुष्य जीवन, उसमें भी बस वर्तमान सुख से बीते फिर उस हेतु अन्याय, अनीति, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, अपराध, डाके, हत्या कुछ भी क्यों न करना पड़े, खूब कमाओ, खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ।

शरीर ही आत्मा, दोनों एक ही हैं-शरीरवादी-चार्वाकवादी–इसके अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शन किसी भी रूप में मानें पर आत्मा, परमात्मा, कर्म, कर्मफल भोगने हेतु चारों गतियों में परिभ्रमण मानते हैं। एकमात्र शरीर ही आत्मा है, आत्मा ही शरीर–ऐसा मानने वाले चार्वाकवादी ही हैं। पंच महाभूत जड़-अजीव पदार्थ हैं, उनमें ही जीवरूप हो जाना कोई नहीं मानता। शरीरवादी या चार्वाकवादी केवल ऐसा मानते हैं। जैसे गुड़-महुआ के संयोग से मादकता उत्पन्न होती है वैसे ही पांच तत्वों या महाभूतों के, माता-पिता के संयोग से जीवत्व उत्पन्न हो जाता है, पृथक किसी आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानना।

वैज्ञानिक नए चार्वाकवादी हैं–अब वैज्ञानिक भी ऐसा मानने लगे हैं कि दो वस्तुओं के संयोग से जैसे कोई तीसरी नई ऊर्जा उत्पन्न होती है, ऐसी ही मनुष्य में ही वह ऊर्जा उत्पन्न हो जाती है। वस्तुओं के संयोग में कभी-कभी न्यूनाधिकता से वह ऊर्जा नष्ट हो जाती है। वह ऊर्जा ही आत्मा मान लो। अब तो रासायनिक पदार्थों से मनुष्य या जीवन, जीवशक्ति उत्पन्न करने के भरसक प्रयास, वैज्ञानिक प्रयास चल रहे हैं। पहले जैविक कोशिका से वनस्पति में नई-नई प्रजातियां, उन्नत बीज बने, फिर वही प्रयोग पशुओं पर, दुधारू गाय-भैंसों की नई नस्लों पर हुए। एक भेड़ की एक कोशिका से वैसी-की-वैसी भेड़ बनाई। अब जैविक कोशिका में जो-जो रसायन (भौतिक तत्व) हैं उन्हें भौतिक पदार्थों, जड़ पदार्थों से जीव बनाने, मनुष्य (क्लोन) बनाने के प्रयास नवचार्वाकवादी वैज्ञानिक कर रहे हैं। पंच महाभूतों

के संयोग से जैसे–आत्मा की उत्पत्ति चार्वाक मानते, वैसा ही वैज्ञानिक अजैविक तत्वों से जीव बनाने में लगे हैं।

महावीर का दृढ़ अकाट्य सिद्धान्त–जड़ कभी चेतन नहीं होता, चेतन जड़ नहीं होता–ईश्वरवादी मानते हैं–उस चैतन्य महाप्रभु ने इस जड़ जगत और चेतन को उत्पन्न किया। चैतन्य आत्मा, जीव कभी अजीव, जड़ पदार्थ को उत्पन्न नहीं कर सकता। कोई जड़-पुद्गल पदार्थ को नष्ट भी नहीं कर सकता। चेतन, चेतनरूप, जानने-देखने-अनुभव करने रूप ही कार्य करता है, जड़-पुद्गल शरीर अपने गुणों, वर्ण-गंध-रस-स्पर्श में निरन्तर परिणमन, पर्यायान्तर करता है। चेतन (आत्मा) का मात्र भाव जुड़ता है, निमित्त कारण से उसमें परिणमन कुछ भिन्न प्रकार से होता है, कार्य दोनों अपने-अपने गुणों, स्वभाव के अनुसार ही करते हैं। घास-फूस-पत्तियों में खाद बनाने की सहज शक्ति है, जंगल में बूंदाबांदी, बरसात के पानी के मिश्रण से बनता रहता है। किसान सबको गड्ढे में किसी प्रक्रिया से, गोबर-गोमूत्र-पानी से मिश्रित कर भरे तो दो माह में खाद बना लिया। खाद बनाने की सहज-स्वाभाविक शक्ति तो उन्हीं में है, किसान के कारण वह शीघ्र-अच्छा खाद बना-कहलाया। चाहे जड़-पुद्गल पदार्थ हो या चेतन पदार्थ, दोनों द्रव्य पूर्णतः पृथक हैं। जड़ कभी चेतन नहीं बनता, चेतन जड़ नहीं बनता।

अंशतः ईश्वरवादी, चार्वाकवादी, एक अपेक्षा से आत्म सन्तति को भौतिक और अभौतिक (जड़ और चेतना) का मिश्ररूप मानने वाले गौतम बुद्ध और नव-चार्वाकवादी वैज्ञानिकों को महावीर का उत्तर है–ऐसा कभी हुआ नहीं, होता नहीं, होगा नहीं कि जड़ (या पुद्गल) जीव (या चेतन) बन जाए या चेतन जड़ हो जाए। कोई वैज्ञानिक यह मानते हों कि हमने जीवत्व शक्ति वाले नई प्रजाति के बीज, भेड़-बकरी, गाय-भैंस बनाए तो महावीर मानते हैं, कहते हैं कि उसका जड़-पुद्गल-भौतिक शरीर ही बनाया, जीव (चेतन या आत्मा) तो अन्य किसी गति या योनि में से उसमें आकर रहता है। चेतन बनाने की शक्ति न तो ईश्वर में है, न पंचमहाभूतों में है, न वैज्ञानिकों की दो या अधिक वस्तुओं के मिश्रण से उस ऊर्जा (एनर्जी) में है।

(5) नियतिवादी दर्शन–जो कुछ होता है वह नियति में निश्चित है। जो होना होता है, वही होता है, जो नहीं होना होता, वह नहीं होता। होनी-अनहोनी को कोई टाल नहीं सकता। जीव का (मनुष्य का) पुरुषार्थ कुछ नहीं कर सकता। दो मित्रों ने परीक्षा की एक जैसी तैयारी की, उत्तीर्ण मित्र की उत्तर पुस्तिका जांचते

समय परीक्षक प्रसन्न मुद्रा में था फिर किसी क्लेश में क्लेशित हो जांचने बैठा, यह विचार भी आया, निर्देश, ध्यान में आया, अधिक प्रतिशत में उत्तीर्ण नहीं करना है, दूसरा अनुत्तीर्ण हो गया। दो व्यापारी एक साथ, एक जैसा पुरुषार्थ कर रहे थे, एक कमाता-दूसरा गंवाता है। नियतिवादी दार्शनिक कहेंगे–ऐसा ही होना था। वयप्राप्त बुजुर्गों को आरामदायक वाहन में, स्वयं नौजवान दूसरे वाहन में–अदला-बदली की। थोड़ी देर बाद बुजुर्गों की कार आगे निकल गई, नौजवानों का वाहन बम-विस्फोट से भस्म, सभी भस्म हो गए। बुजुर्ग दुखी-आर्त्त-रो रहे थे, हमें वैसा नहीं करना था। अरे भाईयों! ऐसा ही नियति में तय था, तुम सबका बचना लिखा था, उनका मरना लिखा था। भाग्यवादी-विधातावादी-ईश्वरवादी अपने-अपने श्रद्धा पुरुषों को मानेंगे, ईश्वर को ऐसा ही मंजूर था, उसके आगे किसी की नहीं चलती। भाग्य में जो होना होता है, वही होता है। विधाता माता ने लेखे ऐसे ही लिखे थे।

नियतिवादी कहेंगे, देखो, ईश्वर को क्या पड़ी कि किसी को उत्तीर्ण करे, किसी को अनुत्तीर्ण, किसी को लाभ दे, किसी की हानि कर दे, किसी को बचाए, किसी को मार डाले। देखो, भाग्य या विधाता भी कुछ नहीं करते। देखो-पुरुषार्थ भी एकसा किया-कोई कुछ कारगर नहीं होता, सब वही होता है जो नियति में तय है।

नियति किसने तय की? इस दर्शन को मानने वाले गोशालक हैं। एक अदृष्य शक्ति, तीसरी कोई शक्ति है, वहीं से, वही सब जीवों की नियति तय करती है, वैसा ही होता है, या नहीं होता है। अतः दुखी मत हो, मस्त रहो, मंजूर कर लो।

महावीर भी नियति को मानते हैं–बड़ा विचित्र है, महावीर ने किसी भी दार्शनिक को नहीं कहा कि तुम असत्य कहते हो या मिथ्या मानते हो। सांख्यमती को महावीर कहते हैं–तुम आत्मा को नित्य-शाश्वत-निर्मल-निर्विकारी मानते हो, सत्य है, मैं भी ऐसा ही मानता हूं परन्तु देखो भाई! ये विकार, क्रोध आदि जड़ प्रकृति में नहीं होते, दिखता है स्पष्ट, ये भी आत्मा ही करता है। करता है तो जन्म-मरण से दुखी, न करे, सहज स्वभाव में रहे तो मुक्त है। मोक्ष है।

ईश्वरवादियों को कहा–तुम सत्य कहते हो। सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर या परमात्मा है। मैं भी मानता हूं पर वह परम आत्मतत्व, वह परम वैभव, वह परम ज्ञान-दर्शन की अमित शक्ति, अनन्त सुख इस आत्मा में ही है। मैं भी ऐसे परमेश्वर को मानता हूं। आत्मा ही परमशुद्ध आत्मा हो, परमात्मा हो जाता है।

बौद्ध दार्शनिक को महावीर कहते हैं–तुम सत्य कहते हो कि उत्पाद-व्यय तो निरन्तर होता है। आत्मा में, वैसे ही पुद्‌गल में निरन्तर उत्पाद-व्यय, पुरानी पर्याय का नाश, नई का उत्पाद होता रहता है। द्रव्य स्वभाव है–अपने गुणों में नित्य परिणमन। परन्तु भाई! जिसमें यह पर्यायान्तर, उत्पाद-व्यय हो रहा है, उस ध्रुव द्रव्य, ध्रुव आत्मा को भी मानो।

चार्वाकवादियों को महावीर कहते हैं–तुम ठीक कहते हो कि शरीर की उत्पत्ति माता-पिता के संयोग से होती है, मैं भी मानता हूं। उत्पत्ति, जन्म और मृत्यु मैं भी मानता हूं। मैं भी मानता हूं कि स्वर्ग-नरक जैसे सुख-दुख मनुष्यों को यहां पर भी हैं। सही कहते हो तुम कि खाओ-पीओ। शरीर है तो यह सब होगा परन्तु यह भी मानो कि यदि यही करते रहोगे, इन्द्रिय-विषयों का भोग भोगते रहोगे तो उस हेतु मनुष्य-मनुष्य, समूह-समूह में छीनाझपटी, संघर्ष-क्लेश, युद्ध-महायुद्ध होंगे और वर्तमान भी दुखी और मानो कि घोर कर्मों के फल भोगने हेतु तिर्यंच-नरक गति, अति पुण्य भोगने हेतु स्वर्ग भी है।

गोशालक को महावीर कहते हैं–जैसा नियत है वही होगा या नहीं होगा, सत्य है, तुम सत्य कहते हो, मैं मानता हूं, नियति में तय है। पर भैया! मानो कि वह नियति मैंने ही पूर्व समय, पूर्व भव, पूर्व भवों में शुभ भाव या अशुभ भाव करके तय की। पुण्य या पाप कर्म बांधे, वह फल नियत है, मैंने जैसा नियत किया, वैसा ही शुभ या अशुभ फल होगा। देखो भाई! आगे एक और विशेष बात है–मैंने पूर्व में अज्ञान के अंधेरे में, मिथ्या मान्यता से, मिथ्या मोह (क्रोध, राग, रति आदि) करके जो मेरी कर्म-नियति मैंने तय कर ली, अब जब वह उदय में आकर फल देगी तो अब मैं मनुष्य भव में हूं, बुद्धि तेज है, ज्ञानी की वाणी सुन-समझ-पक्की कर ली है अब मैं उस अनुकूल फल में, प्रतिकूल फल में, नियत कर्म के अनुसार सुखी-दुखी नहीं होऊंगा और आत्मलीन हो उसे निष्फल कर मुक्त हो जाऊंगा। **नियति को निष्फल करने की शक्ति मुझमें है।** यह कैसी अमूल्य वाणी है!! तुलना कर पहचानो।

अनेकान्त दर्शन–किसी भी वस्तु, द्रव्य में अनन्त गुण या धर्म या गुणधर्म हैं। किसी एक गुणधर्म को पकड़कर, उसी को सत्य, अन्य को असत्य मानना हठाग्रह-मताग्रह है। अनन्त गुणधर्मों को प्रकट करने हेतु अनन्त पक्ष, अनन्त नय (कथन शैली) हैं। जैसे आत्मा निर्मल, निर्विकारी, परम शुद्ध है। परमार्थ से,

निश्चय से, सत्यतः, निश्चय नय से यह कथन सत्य है। यदि कहें कि यही सत्य है तो फिर वह विकारग्रस्त, कर्म से मैला क्यों है? क्यों हो रहा है? वह भी उसी आत्मा का है। तो मानो कि अभी, प्रत्यक्ष सिद्ध, दिख रहा है कि वह क्रोधी (रागी, मोही, द्वेषी) है, यह भी सत्य है। दो विपरीत बातें, एक ही द्रव्य में, सत्य कैसे? अनेकान्त में हल है–परमार्थतः निर्मल निर्विकारी है, पर व्यवहार में जैसा हो रहा है, व्यवहार नय से विकारी है। कोई मात्र निर्विकारी मान ले, कोई विकारी ही है–अब क्या विकार मिटें, अनन्त काल तो विकारग्रस्त रहते हो गया, दोनों भ्रम में हैं। महावीर के अनेकान्त दर्शन में यही विशेषता है चाहे अनन्त काल विकारग्रस्त होते बीता पर वह तुम्हारा स्वभाव नहीं, स्वभावतः, परमार्थतः तुम निर्विकारी हो, विकार से परे हो, निर्विकारी हो जाओ, मुक्त हो जाओ।

महावीर प्रत्येक दार्शनिक को कहते हैं, इस अपेक्षा से, इय नय से, दृष्टि से तुम स्यात् सही हो पर अन्य नय से, अपेक्षा से, दृष्टि से वही सत्य नहीं है। अंश, अंश सत्य नहीं है। हाथी के एक अंग से पूर्ण हाथी, अंधा मानेगा, आंख वाला, ज्ञानचक्षु-महावीर सभी अंगों के समूह रूप, सभी गुणधर्मों के समूह रूप द्रव्य को सत्य कहते हैं। यह अनेकान्त दर्शन है, उसकी कथन शैली को स्याद्वाद कहते हैं।

छहों द्रव्य साथ रहते हैं पर एकमेक नहीं होते

मैं जीव द्रव्य हूं–छहों द्रव्यों और छहों दर्शनों का स्वरूप समझने से यह पक्का हुआ कि महावीर का दर्शन सर्वांगीण है, अकाट्य, प्रामाणिक है, सम्यक् दृष्टि प्रदान करता है। इन छहों द्रव्यों के अपने-अपने विशिष्ट गुण हैं, उसी से उसकी पृथक पहचान, पृथक सत्ता, स्वतंत्र, अन्य सबसे भिन्न, स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है। चाहे छहों द्रव्य साथ रहें, एकसाथ रहते हुए भी प्रत्येक की अपनी पृथक सत्ता, अस्तित्व बना रहता है, कोई किसी के अस्तित्व को मिटा नहीं देता। दो कटोरी दाल ली। कूकर में दो गिलास पानी डाला। उबाला। घी रखकर, हींग, जीरा, मिर्ची, नमक, हल्दी का छोंक लगाकर, एक कटोरी में दाल परोसी। क्या सभी मिलकर मात्र दाल हो गए? कहलाते हैं परन्तु गंध बताकर, हींग जरासी होते भी, अपना अस्तित्व बता रही है। मिर्ची की जलन से मिर्ची, हल्दी के रंग से, नमक अपना खारापन चखाकर अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व बता रहे हैं। दाल ने किसी का भी अस्तित्व निगल नहीं लिया, मिटा नहीं दिया, वैसे ही छहों द्रव्य एक साथ रहते हैं। हाथ ऊपर उठाया–धर्मास्तिकाय है, रोका, अधर्मास्तिकाय है, हाथ या पूरा शरीर

आकाश में ठहरा है, आकास्तिकाय है, हाथ की झुर्रियाँ, शरीर की कृशता से काल की उपस्थिति, वृद्धपना दिख रहा है–काल। हाथ या शरीर में वर्ण (रंग), गंध, रस, स्पर्श गुण हैं, अर्थात् पुद्‌गलास्तिकाय है और ये हाथ ऊपर-नीचे करने की क्रिया आदि अनुभव करने, जानने-देखने वाला-जीवास्तिकाय, मैं भी हूं। सभी एक साथ रहते हुए भी प्रत्येक द्रव्य अपना स्वतंत्र पृथक अस्तित्व बनाए हुए है। छहों द्रव्य मिलकर एक नहीं होते, सातवां द्रव्य नहीं होता। पहले पांचों ने मेरा अस्तित्व मिटा नहीं दिया है। ये पांचों द्रव्य अजीव हैं, इनमें से किसी में भी जानने-देखने-अनुभव करने की शक्ति नहीं है, गुण नहीं है, वह मुझमें, आत्मा में है। मैं आत्म द्रव्य अनन्त काल से पृथक-पृथक शरीर, कभी स्थावरकाय का, कभी दो, तीन, चार, पांच इन्द्रियों वाला तिर्यंच-शरीर, कभी मनुष्य, कभी नारकी, कभी देव शरीर धारण करते भी अपना अस्तित्व बनाए हुए हूं। मैं इन पांचों अजीव द्रव्यों से पूर्णतः भिन्न ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुणों का समूह जीव द्रव्य हूं।

शरीरादि संयोगी है, वियोग निश्चित है

मैं, शरीर से पूर्णतः पृथक स्वतन्त्र आत्म-द्रव्य हूं–चार द्रव्यों की भूमिका मेरे ध्यान में नहीं आती। परन्तु पांचवें पुद्‌गल द्रव्य से बने इस शरीर की भूमिका, महत्व भारी है, प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। यही मैं हूं, यह मेरा है, मैं इसका हूं, दोनों एक ही तो हैं, शरीर में आत्म बुद्धि, बस यही अज्ञानता अनादि से गिनें तो अनन्त काल से चल रही है। महावीर कहते हैं, चाहे भिन्न रूपों में यह मेरे साथ अनादि से है, मेरा एक अंश भी जड़-पुद्‌गल नहीं हुआ, इस शरीर का एक अंश, एक परमाणु भी चेतन रूप, जीवरूप नहीं हुआ। यह कर्म संयोग से मिलता, बिछुड़ता है, संयोग स्वभाव वाला है, मैं इसके संयोग के होते हुए भी असंयोगी, अयोगी आत्मा हूं, शुद्ध आत्मा हूं। परमात्मस्वरूप मैं ही हूं। मैंने पूर्व भव में नाम, गोत्र, आयुष्य कर्म बांधा, उसके फल से यह शरीर, माता-पिता के संयोग से बना, जुड़ा, मिला। पूर्व के वेदनीय कर्म से साता (सुख), असाता (दुख) मिले, मिलते हैं। शरीर के संयोग से, शरीर के साथ जुड़ी पांच इन्द्रियों के कारण, उनकी पूर्ति में, मैं निरंतर रागादि भाव कर्म करता हूं। उसके कारण ज्ञानावरण आदि कर्मों का संयोग होता है। शरीरादि, रागादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, तीनों संयोगों से परे मैं तो असंयोगी, अयोगी, असंग, अभय, अनासक्त, ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूपी आत्मा हूं। इनके मेरे साथ संयोग संबंध हैं। शरीर मिला, संयोग से, उससे जुड़े परिवार, उनके लिए जोड़ा धन, सभी छूटने वाले, आयु न जाने किस क्षण पूरी हो जाए और सब छूटने वाला।

संयोगी का वियोग निश्चित है। मेरे साथ मेरे निज-गुण हैं, स्व-पर को जानना, देखना, अनुभव करना आदि। जैसे मिश्री का, मिठास गुण से शाश्वत संबंध है, कभी अलग नहीं होता, उसे शास्त्र में तादात्म्य संबंध कहा, वैसे ही संयोग-संबंध तो छूटने वाले और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि कभी न छूटने वाले, शाश्वत, सदा जुड़े रहने वाले मेरे (आत्मा के) गुण हैं। ऐसे सभी अन्य द्रव्यों से, शरीरादि से भिन्न मैं जीव द्रव्य हूं। ऐसा पक्का आत्मसात हो, आत्मा में रम जाए तो सम्यक् ज्ञान कहलाता है।

नवतत्व-सार

आत्मतत्व–उक्त विवेचन से यह समझ में आया कि आत्मा द्रव्य, अपने निज गुणों में अवस्थित, सदा स्थित, एक स्वतंत्र पृथक अस्तित्व वाला है। अन्य पांचों मुख्यतः पुद्गल द्रव्य-निर्मित शरीर से अनन्त काल से संयोगित (जुड़ा) होते भी मैं मुझ में हूं, यह इसमें है। परन्तु यह इतना आसानी से समझ में नहीं आता, पक्का नहीं होता, अवधारणा दृढ़ नहीं होती, आत्मसात नहीं होता, अन्तरतम में श्रद्धा पक्की नहीं होती अतः यह, अजीव से बंध जाता है। उस बंधन का मुख्य कारण है–आत्मा के, मेरे ही, निरन्तर होने वाले शुभ या अशुभ भाव। शुभ भाव से पुण्य कर्म का और अशुभ भाव से पाप कर्म का आना होता है। ऐसे छः तत्व हुए, जीव, अजीव, बंध, पुण्य, पाप और आश्रव। यदि आने वाले कर्मों को रोक दें तो उसे कहा-संवर। पूर्व बद्ध कर्म बंध को हटाएं, झाड़ दें, दूर करें तो उसे कहा-निर्जरा। अंश-अंश में निर्जरा होते-होते सर्व कर्म से रहित हो जाना, घाती कर्मों से रहित हो जाना, मोक्ष तत्व है।

इन नव तत्वों का जैसा स्वरूप तत्वतः, सत्यतः, भावतः, परमार्थतः, भगवान् महावीर ने देखा-जाना-अनुभव किया, वैसा ही बताया। इनका स्वरूप समझने, उन भावों को आत्मभावपूर्वक समझने, उनमें श्रद्धा, प्रतीति करने से सम्यक्त्व होती है। एक बार सम्यक्त्व हो गई तो उसका मोक्ष निश्चित है। सम्यक्त्वी की दुर्गति नहीं होती। अधोगति अर्थात् तिर्यंच गति, नरक गति का बंध नहीं पड़ता। ऐसी सम्यक्त्व का भारी महत्व है। उसका मूल है, इन नौ तत्वों को समझना। आत्म तत्व को शेष तत्वों से पूर्णतः भिन्न जान लेना।

आत्मा का स्वरूप–आत्मा, जीव, चेतन, जीवास्तिकाय, प्राण, प्राणी, भूत, जीव-सत्व को पर्यायवाची मानना। आत्मा और जीव मिलकर जीवात्मा शब्द है।

द्रव्यों के स्वरूप में जीवास्तिकाय शब्द है। जिसमें चेतन शक्ति है, उसे चैतन्य आत्मा कहा। जिसके दो रूप और हैं–ज्ञान चेतना, दर्शन चेतना। प्राण अर्थात् जो श्वाशोच्छ्वास ले। उसे प्राणी, प्राण धारक भी कहा। भूत, जो तीनों काल अस्तित्व में रहे। जीव, जो जीता है, प्राणों के आधार पर जीता है। उसमें उपयोग गुण या लक्षण है। सत्व, जो शुभ-अशुभ भाव करने में समर्थ है। जिसमें स्वयं को भी और अन्य जीवों, पदार्थों के जानने की शक्ति, ज्ञान है। जिसमें स्व-पर को देखने की शक्ति है, जिसमें सुख गुण हैं। जिसमें वीर्य, आत्मशक्ति है। जिसमें सुख-दुख का अनुभव करने का गुण है, वह आत्मा है।

मूलतः मुख्यतः चार गुण गिनें–ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य। ये सभी अनन्त हैं। मानें कि मैं अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य स्वरूपी हूं। ये गुण या गुण समूह ही आत्मा है। ऐसी आत्मा किसी ने बनाई नहीं। यह किन्हीं संयोगी पदार्थ से नहीं बनी तो संयोगों के बिखरने से नाश भी नहीं होती। यह अनादि से है। अर्थात् इसका आदि (प्रारंभ) नहीं है। यह अनन्त है, अर्थात् अनन्तकाल तक रहेगा। अतः मानें कि मैं अजन्मा, अजर, अमर हूं। अजन्मा अर्थात् जन्मा नहीं। अजर अर्थात् जरावस्था, बुढ़ापा नहीं होता। अमर अर्थात् मरता नहीं है। **अनादि अज्ञान से ढंका अनंत ज्ञान।**

किन्हीं संयोगी पदार्थों से, संयोगों से शरीर बनता है। उस शरीर की अवस्थाएं बदलती हैं, बालक, युवा, प्रौढ़, वृद्ध, वयोवृद्ध और मृत्यु। जब तक यह मान्यता रहती है कि यह सब मुझमें (आत्मा में) हो रहा, तब तक मिथ्यात्व है जिसका दुष्फल है, अनन्त कर्म, अनन्त जन्म-मरण, उसके अनन्त दुख। ऐसी मिथ्या मान्यता अनादि से चली आ रही है। इसका कारण भी अनादि का अज्ञान है। अनादि से मुझमें (आत्मा में) अनन्त ज्ञान भी, अनादि से अनन्त अज्ञान भी है। दोनों विपरीत, प्रकाश और अंधेरा एक साथ नहीं रहते पर मुझमें दोनों, अनन्त ज्ञान-प्रकाश और अनन्त अज्ञानान्धकार दोनों रहे। वस्तुतः वह ज्ञान गुण, मेरी ही अनादि भूल से अज्ञान से ढंक गया। परम ज्ञानी की वाणी से, अपना मूल, वास्तविक स्वरूप समझा। तब जाना कि मैं तो अनन्त ज्ञान का पुंज हूं, तब उस आवरण का हटाना प्रारंभ होता है, ज्ञान का प्रकाश बढ़ते-बढ़ते पूर्ण ज्ञान प्रकट हो, संपूर्ण अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है।

उस अनादि अज्ञान से मैं मुझसे घनिष्टतः निरन्तर साथ जुड़ने वाले भिन्न-भिन्न शरीर रूप ही मैं हूं, यही जानता रहा, उसे अपना ही, वही मैं हूं ऐसा

जानता रहा, उसे ही अपना मान देखता रहा, उसी कारण उसी में मोह-ममता-आसक्ति-राग करता रहा, उसी के कारण या उसमें रही हुई इन्द्रियों से मिलने वाले सुख को ही सुख मानता रहा। निरन्तर अनन्त काल तक वही करता रहा तो कहेंगे, ज्ञान अज्ञानरूप, दर्शन अदर्शन या मिथ्या दर्शन रूप, सुख बाह्य पदार्थों में इन्द्रियों से मिले सुख को ही अपना जानता-मानता रहा। ऐसे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य गुण उल्टे चल रहे थे।

मूल में भूल-शरीर को अपना जाना

मूल कारण हुआ-अपना वास्तविक स्वरूप तो नहीं जाना, नहीं समझा और शरीर के स्वरूप को, शरीर को ही अपना जाना, अपना माना। इस अनादि की भूल से अनन्त कर्म और जन्म-मरण के अनन्त दुख उठाए। योगानुयोग, शुभ भाव से, पूर्व के जीवनों में भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी सही, मार भी खाई परन्तु पशु आदि में रहा, बेबस सहन किया। उससे पुण्य बंधा। ऐसे कई भवों के पुण्य के पुंज के पुंज, ढेर एकत्र होने से मनुष्य भव मिला, बुद्धि अच्छी मिली, आर्य क्षेत्र मिला, शाकाहारी-संस्कारी माता-पिता या कुल मिला। मैं भी ज्ञानी के वचन सुनूं, अपनी आत्मा को, कर्म को, कर्मफल को, परम सुख रूप मोक्ष को समझूं ऐसा भाव किसी, किन्हीं पूर्व मनुष्य भव में आता था पर जाकर सुनने का अवसर नहीं मिला, उस शुभ भाव से विशिष्ट पुण्य बंध हुआ। उस कारण परम ज्ञानी, परमवीतरागी, तीर्थंकर परमात्मा की वाणी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, ज्ञानी गुरु से सुनने का अवसर मिला। सुनकर समझा मैं शरीर रूप नहीं हूं। यह जन्म, रोग, शोक, दुख, दारिद्रय, मृत्यु तो शरीर या शरीर संबंधी हैं, मैंने अपने जान लिए, गलती हो गई। सुन-समझ-पक्काकर शरीर से पूर्णतः पृथक स्वतंत्र अस्तित्व वाला आत्मा हूं। ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य मेरे गुण हैं। वर्ण-गंध-रस-स्पर्श गुणों वाला, सड़ने-गलने-नष्ट होने वाला यह शरीर है, यह मेरा नहीं, मैं इसका नहीं, भूल सुधरी और दोनों पृथक-पृथक जान देख-अनुभव में आ गए तो सम्यक्त्व हुई। अनादि का अज्ञान टूटा, मिथ्या मान्यता मिटी। ज्ञान सम्यक् हो गया, दर्शन सम्यक् हो गया और अनन्त जन्म-मरण, उससे अनन्त दुख का कारण मिट गया। ऐसा अशुचि, दुर्गन्धों वाले शरीर से भिन्न अपने ज्ञान-दर्शन स्वरूपी आत्मा को जानना ही आत्म तत्व को जानना कहलाया। वह आत्म तत्व स्वरूप मैं हूं। ऐसा स्वरूप आत्मा का हुआ। यह आत्म तत्व की व्याख्या समझो।

द्रव्य, गुण, पर्याय से आत्मा-शरीर की भिन्नता

द्रव्य से मैं आत्मा। द्रव्य से यह शरीर पुद्गल। गुण से मैं ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुणों का पूंजीभूत, समूह। गुण से, यह शरीर वर्ण, गंध, रस स्पर्श आदि गुणों वाला। स्वभाव से मैं मात्र अपने आपको जानने-देखने वाला उपयोग गुण या लक्षण वाला अजन्मा, अजर, अमर ऐसा मेरा स्वरूप है। स्वभाव से यह शरीर निरन्तर सड़ने-गलने वाला। चमड़ी, हड्डी, मांस, मज्जा, रक्त, पीप, बलगम, मल, मूत्र आदि दुर्गंधों का भंडार। ऐसी अशुचि से ही उत्पन्न और अशुचियों का पुंज अनित्य, क्षणभंगुर, मात्र मिट्टी। मिट्टी का बना हुआ, मिट्टी ही खाने वाला, मिट्टी बनाने वाला और अन्ततः मिट्टी में ही मिलने वाला। भोजन का हर पदार्थ मिट्टी का ही रूपान्तर है। गेहूँ का एक दाना बोया, पचास दाने मिट्टी से ही बने। बढ़िया सुगंध वाला देशी घी का, बादाम का हलुआ खाया, 24 घंटे बाद मलवा। न जाने किस क्षण आयुष्य पूरी हो जाए, मृत्यु, कुछ समय में चिता में झौंका, कि राख की ढेरी। ऐसा यह शरीर। एक क्षण का भी भरोसा नहीं। इतना क्षणभंगुर, विनाशीक, अनित्य, उसी अपेक्षा मात्र संयोगी। इसकी तुलना में मैं नित्य, शाश्वत, ध्रुव, त्रैकालिक आत्मा। सदा काल रहने वाला। इतनी दोनों की भिन्नता है।

मेरे निज-गुण जानना, देखना, अनुभव करना, निरन्तर अपने सुख में तत्लीन लवलीन, मगन रहना इन गुणों का, एक भी गुण का एक अंश भी इस शरीर में नहीं है। इसमें जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श गुण हैं, उनमें से एक भी गुण मुझमें (आत्मा में) नहीं है। जीव या आत्मा को अवर्ण, अगंध, अरस, अस्पर्श वाला भी कहा है। मुझे कभी भ्रांति न हो जाए, कि वर्ण, गंध, रस, स्पर्श युक्त शरीर मैं हूं। इसलिए महावीर ने जीव की एक नकारात्मक परिभाषा दी। जिसमें वर्ण नहीं, गंध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, वह जीव मैं हूं। गुण अपेक्षा दोनों में पूर्णतः प्रकटतः स्पष्ट भिन्नता है।

पर्याय से भिन्नता–जैसा द्रव्य वैसी ही उसकी पर्याय होती है। द्रव्य अपने-अपने गुण के अनुसार, अपने गुण में ही परिणमन करता है, पर्यायान्तर करता है। पर्याय या रूप बदलता है। अवस्थाएं बदलती हैं। जैसे पुद्गल का एक गुण वर्ण है, वह वर्ण गुण कभी सफेद, कभी पीला, कभी हरा, कभी काला ऐसे अनन्त रूप निरन्तर बदलते ही जाते हैं। जन्म के समय गोरा-चिट्टा शरीर तथा पीला (पीलिया रोगग्रस्त) पड़ने लगे, सांवला पड़ने लगे, चमड़ी में झुर्रियां पड़ने लगे, काले बाल सफेद होने लगें तो मुझे (आत्मा) चिंता होने लगती है। क्यों भाई! क्यों

नहीं समझता कि तुझमें तो वर्ण नामक गुण ही नहीं है, वह तो पुद्‌गल का, इस शरीर का गुण है। वह गुण स्वभाव के अनुसार वैसा ही होता है, होगा। भाई! तुम क्यों परेशान, दुखी होते हो। उसके सहज स्वभाव परिणमन को तुम रोक सकते हो क्या? प्रयास भले ही करो, रुकता नहीं है। सुगंध से दुर्गंध, स्वादिष्ट से बेस्वाद, मीठे का खट्टा-खारा, मुलायम का कड़ा, ठंडे का गरम, गरम का ठंडा होना–ये सभी पुद्‌गल की पर्यायें (अवस्थाएं) हैं। पक्का मानो कि वे मेरी नहीं हैं।

आत्मा की पर्यायें आत्मा में से ही प्रकट होंगी। मेरा एक गुण है–ज्ञान। वह जानने रूप ज्ञान कभी मिथ्या मान्यता वाले कथन, सिद्धान्त सुन-पढ़ कर उलटा चलता है। जिसे जानना चाहिए उसे तो नहीं जानता, परायों को अपना जानता है। परायों की गिनती में गिनें–(1) तन (2) जन (3) धन। यह तन, शरीर, मिट्टी का पुतला, पुद्‌गल-परमाणुओं का स्कंध (पिंड, समूह, घनीभूत रूप) पराया है। इस तन के साथ जुड़ी इन्द्रियां, उनकी पूर्ति हेतु जोड़े, जुड़े जन, परिजन। उनके जुड़ते ही, मिलते ही उनकी पूर्ति, पोषण हेतु कमाया-जोड़ा धन। तन भी पराया, जन भी पराये, धन भी पराया। इन्हें अपना जाना और अपने को जाना ही नहीं, कभी सुना-पढ़ा तो शब्द रूप जाना। इसे कहा–मेरे ज्ञान गुण की यह विपरीत पर्याय है, कुबुद्धि, दुर्बुद्धि, कुमति, मति अज्ञान। वह मेरे ज्ञान गुण से ही निकली है। कभी ज्ञानी के, परम ज्ञानी के वचन से सुलटी होकर, सुबुद्धि, सुमति, मतिज्ञान हो जाती है। अन्तिम पूर्ण अवस्था केवल ज्ञान हो जाती है। तब मैं मात्र निरंतर मुझे ही जानता हूं। वही मेरा असली स्वरूप है। उसी के लिए सारा आत्म पुरुषार्थ है। यह लिखना, पढ़ना, समझना, उस स्व, शुद्ध स्वरूप को पा जाने के लिए है। अभी मैं (आत्मा) मनुष्य पर्याय में हूं, वस्तुतः मनुष्य शरीर पुद्‌गल की पर्याय है परन्तु व्यवहार नय से, व्यवहार अपेक्षा से, दृष्टि से ऐसा कहा जाता है। यह द्रव्य से, गुण से, पर्याय से जीव और संयोगी अजीव-पुद्‌गल शरीर की भिन्नता, पूर्णतः पृथकता का ज्ञान, भान कराया।

प्रथम संयोग शरीरादि

तीनों संयोग पौद्‌गलिक हैं–मेरे साथ (आत्मा के साथ) तीन प्रकार के संयोग हैं। एक शरीरादि का संयोग। संसारी दशा में, अभी मैं शरीर से बंधा, जुड़ा हुआ हूं। शरीर जिससे उत्पन्न हुआ, जिससे विवाह कारण से मिला, दोनों के हुए बेटे-बेटी, फिर पोते-पोती, दुहिते-दुहिती, सगे-संबंधी, बंधु-बांधव आदि कई। इनका मेरा संबंध शरीर से है। इन्हीं के लिए जुड़ा धन-वैभव-पद-प्रतिष्ठा आदि। ये

सभी मिट्टी के। सबके शरीर मिट्टी के। सारा धन-वैभव-साधन-सामग्री मिट्टी से उपजे-निकले-बने हुए हैं। इन सबको पुद्गल जन्य, पौद्गलिक कहेंगे। यह प्रथम संयोग है।

दूसरा संयोग-रागादिभावकर्म

इन्हीं के मिलने से, संयोग से, शरीर की आसक्ति या इन्द्रियासक्ति के कारण मोह-ममता, राग-द्वेष, क्रोध-मान-माया-लोभ, रति-अरति, हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि विकारी भाव होते हैं। ये पुद्गल-कर्म के उदय में होते हैं। उससे समक्ष आए अनुकूल या प्रतिकूल निमित्त आते हैं। वे मानें–व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति। ये सभी पौद्गलिक हैं। इनसे प्रेरित, प्रभावित होकर मैं (चैतन्य स्वरूपी, ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूपी आत्मा) रागादि विकार भाव करता हूं। ये रागादि भाव मेरे ही हैं, मैं ही कर रहा हूं, जिन वाणी के अनुसार रागादि (क्रोधादि, मोहादि) मेरा स्वभाव नहीं पर, स्व-भाव, स्व-स्वरूप से अनभिज्ञ, मैं विकार भाव करता रहता हूं। मेरा किया हुआ कार्य है अतः उसे कहा रागादि भाव कर्म। पुद्गल से हुआ, अतः पौद्गलिक या अजीव भाव है। अजीव से प्रेरित हो मैंने किया। इसलिए अजीव भाव कहा। यह दूसरा संयोग।

तीसरा संयोग-ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म

इससे ज्ञानावरण आदि कर्म मुझ से बंधे। ये कर्म भी पुद्गल से बने। महावीर एकमात्र दार्शनिक, धर्मवेत्ता हैं जो कर्म को मात्र जीव के संस्कार नहीं, भाव नहीं, पौद्गलिक कहते हैं। संसार (लोक) में कार्मण वर्गणा के अनन्त पुद्गल हैं। पुद्गल हैं तो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श गुण वाले हुए। उन्हीं से, मेरे रागादि भाव कर्म से, रागादि की गाढ़ता (तीव्रता) या मंदता के अनुसार ज्ञानावरणादि कर्म बनते हैं, मुझसे जुड़ते-मिलते हैं, बद्ध-स्पृष्ट (स्पर्शित होना) होते हैं। यह तीसरा संयोग है।

चक्रव्यूह

मेरे, शरीरादि के संयोग से रागादि होते हैं। उनसे ज्ञानावरणादि कर्म का संयोग होता है। उनसे, उनमें से शरीर रचना हेतु नाम कर्म, गोत्र कर्म, आयुष्य कर्म कार्य करते हैं। वेदनीय कर्म के फल से सुख-दुख, अनुकूल-प्रतिकूल व्यक्ति, वस्तु, परिस्थितियां मिलती हैं इनसे पुनः रागादि। रागादि से कर्मादि, कर्मादि से पुनः शरीरादि। ऐसी अनादि की श्रृंखला चली आ रही है। चतुर्गति के चक्रव्यूह में मैं फंसा हुआ हूं।

कैसे निकलूं? पूर्व में अज्ञानता में, मिथ्यात्व में पड़ा रहने से मिथ्या क्रोधादि कषाय (रागादि) कर लिए, अब ज्ञानी की वाणी समझ ली कि क्रोधादि मेरा स्वभाव नहीं है, मैं न करूं तो कर्म न आएं कर्म न हों, न रहें तो शरीरादि नहीं, शरीरादि नहीं तो रागादि नहीं, तब पुनः कर्म भी नहीं, तब मैं मुक्त, मोक्ष।

जीव-अजीव का स्वरूप समझने से मोक्ष–यदि सत्पुरुष की सत्वाणी, सद्गुरू की गुरुवाणी, ज्ञानवार्ता सुन-पढ़-समझ कर जीव तत्व का, अजीव तत्व का, दोनों की पृथकता, भिन्नता का ज्ञान-भान हो जाए तो अजीव के, अजीवरूप उक्त तीनों संयोगों से पूर्णतः परे अयोगी, शुद्ध, सिद्ध, परमात्मा। जीव-अजीव की भिन्नता न समझने से, मिथ्यात्व, अज्ञान में पड़े रहने से अनन्त कर्म और फल मिला–अनंत जन्म-मरण, उससे अनन्त दुख। इनकी भिन्नता समझ, अजीव से परे हो मात्र जीव स्वरूप हो जाऊं, ज्ञाता-द्रष्टा भाव स्वरूप जीव, आत्मा हो जाऊं तो अनन्त जन्म-मरण के अनन्त दुख का आत्यांतिक (सदा सदा के लिये) अंत हो जाए। अतः महावीर के धर्म-दर्शन में यह समझ पक्की कर लेना, मोक्ष मार्ग की प्रथम सीढ़ी है, पूर्णत मोक्ष है। इतना इस समझ का महत्व है, इसलिए ज्ञानी गुरू इसे समझने-समझाने पर इतना जोर देते हैं। फिर एक विशेष बात, यह समझना, ऐसा हो जाना, यह भी मात्र मनुष्य भव में ही, मनुष्य भव से ही संभव है। अतः इस स्वर्णिम अवसर को चूकें नहीं, अत्यन्त त्वरा से, शीघ्रता से जीव और अजीव का, स्व-पर का स्वरूप समझ, भेद जान, भेद से परे अभेद, अखंड, अपूर्व स्व-स्वरूप को पा जाएं। उस स्व-स्वरूप का आनंद ही अपूर्व आनंद है। वह अपूर्व आनन्द का पिंड घन मैं स्वयं हूं, आत्मा। एकान्त में शान्त हो, उस अपूर्व शान्ति का अनुभव करें अपने आप में ठहर जाएं, सर्व अजीव से, अजीव-पौद्गलिक-रागादि विकारों से परे अपने उस निर्विकारी-आत्म-तत्व को पहचानकर, पाने का पुरुषार्थ ही अपूर्व आनन्द का निरंतर प्रकट होते जाना है। लक्ष्य-पूर्णानन्द, आत्मानंद की पूर्णता। उसकी तुलना में पांचों इन्द्रियों के अनंत काल के समस्त भोगजन्य सुख, तुच्छ हैं। अनुभव करें, अनुभव आ जाए, तो मानें। न मानें, न जानें, तो पुनः पुनः बंध में। यहां दो तत्वों की कुछ व्याख्या पूरी हुई। न मानें तो तीसरा तत्व जानें-बंध।

(3) बंध–जीव मैं, अजीव में प्रमुख, सीधा जुड़ा हुआ, यह शरीर। इन दोनों का परस्पर संबंध, संयोग ही बंध है। वस्तुतः आत्मा में बंधने, स्पर्श करने, दूसरे से जुड़ने का गुण ही नहीं है। शास्त्रकार आत्मा को अबद्ध-अस्पृष्ट बताते हैं। इसमें वर्ण-गंध-रस-स्पर्श गुण नहीं हैं। पुद्गल से पुद्गल तो बद्ध होता है परन्तु पुद्गल

शरीर के साथ अमूर्तिक-अरूपी आत्मा का बंधना, संभव नहीं है। वस्तुतः ये दोनों साथ रहते हैं दोनों अपने-अपने गुणों में अवस्थित हैं। अपनी-अपनी अवगाहना लिए, दोनों आकाश में रहते हैं। इनका साथ हो जाना ही बंध है। यह बंधन अनादि से है। ज्ञानावरण आदि कर्म बंध अनादि से है। उन्हीं में से अघाती कर्म नाम, गौत्र, आयुष्य कर्म के फलस्वरूप शरीर से भी यह आत्मा अनादि से बंधा है। साता या असाता वेदनीय कर्म से सुख-दुख भी अनादि से हैं। इन्हीं के कारण विकारी भाव-कर्म या असाता वेदनीय कर्म से सुख-दुख भी अनादि से हैं। इन्हीं के कारण विकारी भाव-कर्म भी अनादि से हैं। इसीलिए कहा जाता है अनादि बंध के कारण अनन्त काल से मैं जन्म-मरण के अनन्त दुख से दुखी हो रहा हूं।

अनुकूल मिले तो राग-रति कर कर्म-बंध

बंधन से ही बंध है–मानें कि मैं जिन-जिन से बंधन में बंधा हूं, वही बंध का कारण हैं। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी, इन चार गतियों में, 84 लाख जीव योनियों में, एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय–इन पांच जातियों में, जब-जब भी गया, वहां-वहां जन्मा, जिनके बीच रहा, तब-तब यह माना कि ये मेरे हैं, मैं इनका हूं, ऐसी ममता करके मैंने कर्म बंध किया। ये ममता के बंधन भयंकर हैं। सर्वाधिक ममता इस शरीर से है। इसकी पूर्ति में जो-जो व्यक्ति सहायक हैं, उनसे उसी अनुपात में ममता है। जिससे जिस इन्द्रिय-विषय की पूर्ति होती है, उससे उतनी ही ममता होती है। जिससे पांचों इन्द्रियों के विषयों की भरपूर पूर्ति होती है उसे परिवार-शास्त्र में धर्मपति-धर्मपत्नी कहते हैं। गाढ़तम, तीव्रतम ममता या प्रीति या प्रेम या मोह या रति कहें–इन दोनों के बीच कही जाती है। साहित्य में उन्हें प्रियतम-प्रियतमा, या प्राण प्यारे-प्राण प्यारी कहा जाता है। जितनी प्रीति अधिक, उतना ही बंध अधिक। श्रेणियां-गाढ़-गाढ़तर-गाढ़तम या मंद, मंदतर, मंदतम। जिसका जितनी श्रेणी का, तरतमता का अनुराग, राग, मोह, प्रीति, आदर-सम्मान-सेवा उतना, उसी श्रेणी का कर्म बंध होता है। अत्यन्त अनुराग वाले माता-पिता, प्रेमी, भाई-बहन आदि को भी दरकिनार कर, गाढ़तम प्रेमानुराग, प्रीति, मोह-ममता प्रियतम और प्रियतमा में होती है। कहते हैं–सातवीं पृथ्वी अर्थात् सातवीं नारकी तमः तमा में जाने का बंध कर भयंकरतम दुख भोगने पड़ते हैं। जिन-जिन व्यक्तियों से जितना-जितना मोहित होकर बंधन बांध रखे हैं वह सब कर्म बंध का कारण है।

ये प्रतिकूल मिलें तो द्वेष क्रोध-हिंसा कर फिर बंध

विपरीत लें-जो-जो इस शरीर को हानि पहुंचाता है, इन्द्रिय विषयों की पूर्ति में बाधक होता है, विषय-पूर्ति के लिए साधनों को हानि पहुंचाता है, पूर्ति हेतु उसकी आजीविका में हानि पहुंचाता है, बाधक बनता है, उन-उन से द्वेष होता है। ऐसे राग द्वेष से कर्मबंध है। अज्ञानता के वश इन्हें अपना माना-जाना, चाहे प्रियरूप या अप्रियरूप, मित्ररूप या शत्रुरूप माना, अतः वह अज्ञान कर्म बंध का मूल या मुख्य कारण हुआ। अज्ञानता क्या? अपने-आप को, आत्मा को तो जाना-माना नहीं आत्मा से अत्यन्त प्रीति हुई नहीं, अपने-आप से, आत्मा से परिचय हुआ नहीं और जो इन इन्द्रियों से जानने-देखने में आ रहे हैं, उन व्यक्तियों को, इस शरीर को ही अपना जाना-माना, यही अनादि अज्ञान, अज्ञान से ही राग-द्वेषादि और वही मोह वही कर्म बंध, उसी से भव-भ्रमण और उसी से अनन्त दुख।

परिग्रह से बंध–फिर, शरीर-सुख के लिए या कहें, इन्द्रिय-सुख के लिए कमाए-जोड़े-एकत्र किए सारे साधन, सारी सुविधायें, समस्त धन-वैभव-पद-प्रतिष्ठादि हैं। न्यूनाधिक हों या कम या अधिक मूल्यवान हों, समस्त चल-अचल सम्पत्ति में भारी मोह-ममता-मूर्च्छा-तृष्णा पड़ी है। यह कर्म बंध का कारण है।

जीवों की हिंसा से बंध–इन सबको जुटाने, आजीविका कमाने हेतु, कोई भी कार्य-व्यवसाय हो उसमें, कितना ही बचें, जीवों की हिंसा-विराधना होती है। उन्हें दुख-क्लेश-मूर्च्छा-मृत्यु तक के कष्ट होते हैं। ऐसे आरम्भ-समारम्भ-परिग्रह से बंध है। परिग्रह में ममता-मूर्च्छा होती है, उसे जोड़ने में, संचित करने, सहेजने, संभाल करने, सुरक्षित रखने में भी हिंसादि पाप होते हैं। वह भी बंध है।

क्या महावीर का धर्म-दर्शन मात्र सन्यासियों के लिए है?

परिचितों-मित्रों-परिजनों से वात्सल्य-स्नेह, प्रीति-प्रेम, आदर-सम्मान-सेवा भाव, कार्य बंध है। साधन-सुविधाएं, चल-अचल सम्पत्ति से भी बंध है। उस हेतु आजीविकोपार्जन करना, आरम्भ-समारम्भ बंध है तब तो महावीर का धर्म-दर्शन मात्र सन्यासियों के लिए ही मानें, गृहस्थों-संसारियों के लिए नहीं? यह प्रश्न चिन्ह खड़ा हुआ। मनुष्य हैं तो उनके संगठन, परिवार, समाज, संस्था, संघ, राजनैतिक-शासक-संघ आदि सभी व्यवस्थाएं तो होंगी। स्वीकार है। होंगी परंतु महावीर कहते हें कि मात्र अपने शरीर या इन्द्रिय सुख की पूर्ति ही लक्ष्य है तो

अनाप-शनाप वस्तुओं, चल-अचल सम्पदा जोड़ेंगे, मनुष्य की इच्छा या तृष्णा असीम है प्राकृतिक संसाधन तो असीम नहीं हैं, यदि इनका अति दोहन करेंगे तो भयंकर आरंभ-समारंभ से भारी हिंसादि का पाप होगा और प्राकृतिक असन्तुलन, प्रकृति में प्रदूषण की भयंकरता से, प्रकृति के विनाश से मनुष्य का विनाश होगा। इसलिए महावीर कहते हैं–पृथ्वीकाय, जलकाय, (अपकाय), तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय भी जीव हैं, उन्हें दुखी मत करो, मत मारो। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और पेड़-पौधे, ये जिनके शरीर हैं, उनके साथ असंख्य से लगाकर अनन्त जीव हैं, उनकी हिंसा अनाप-शनाप होगी क्योंकि मनुष्य की आवश्यकताओं की कोई सीमा नहीं है फिर दो, तीन, चार, पांच इन्द्रियों वाले छोटे-बड़े जीव जन्तुओं, पशु-पक्षियों की भी भारी हिंसा होगी तब कर्म-बंध तो होगा ही। साथ में, सोचें, मनुष्य जिएगा कैसे? मानव-समाज का जीवन, पूरा इन्हीं पर निर्भर है, ये सभी प्रकृति के अंग हैं, मनुष्य भी उसी का अंग है। महावीर कहते हैं–इन सभी स्थावर काय और त्रसकाय के जीवों को भी जीने दो। इन्हें भी सुख चाहिए, दुख नहीं, ये भी जीना चाहते हैं, मरना नहीं।

गृहस्थ आवश्यकता सीमित रखें, आत्मानंद खोजें

अतः मनुष्य आजीविका इतनी ही, ऐसे कमाए कि अन्य जीवों की, प्रकृति की हानि न्यून से न्यूनतम हो। अभी एकदम उल्टा हो रहा है। फिर महावीर कहते हैं–मात्र इस मनुष्य को, मनुष्य भव में प्राप्त इन पांच इन्द्रियों से मिलने वाला सुख ही सुख नहीं उस-उस इन्द्रिय के माध्यम से, किसी व्यक्ति-वस्तु-परिस्थिति के कारण थोड़े से सुख और अधिकांशतः दुख का अनुभव जिस आत्मा को होता है, उस आत्मा के स्वयं के आनंद का अनुभव करो तो असीम, अनुपम, अपूर्व आनन्द में सराबोर हो परम सुख पाओ, कर्म-बंध भी नहीं और असीम सुख, वर्तमान में, यहां प्रत्येक आत्मा के पास विद्यमान है।

संयमी बन आत्मानंद में लीनता का लक्ष्यः

इसी आधार पर जिस-जिसने जिन-जिन व्यक्तियों से जो-जो संबंध बनाए उनमें लिप्त हुए बिना, अनुरक्त-अनुरंजित-गृद्ध-आसक्त-अत्यन्त गृद्ध हुए बिना भी तो रहा जा सकता है। बंध का संबंध गृद्धता, आसक्ति, लिप्सा से है। अतः जिन्हें कर्म बंध नहीं करना, वे अनेक के साथ रहते हुए भी, कीचड़ में कमल के समान, अलिप्त, अगृद्ध, अनासक्त, निर्लिप्त, अभोगी, उदासीन भाव से रहो। जब सामर्थ्य

पुरुषार्थ उपड़े, जगें, मोह निद्रा से, तो भिक्षु बनें, संयम लें, आत्मा के अपूर्व आनंद का अनुभव कर उसी में लीन हो जाएं।

कर्म-बंध–जीव प्रतिपल जो शुभ या अशुभ भाव करता है, उससे कर्म का बंध होता है। हिंसा से मिथ्यादर्शन शल्य तक 18 पाप-स्थान हैं। अन्न पुण्य से नमस्कार पुण्य तक नौ शुभ भाव हैं। जीव अधिकांशतः अशुभ और कभी शुभ भाव करता है। भाव तो जीव (आत्मा) करता है परन्तु उन्हें क्रियान्वित करने में, इसके साथ जुड़ा मन, मनन करता है, वचन से बोला जाता है और काया या इन्द्रियों से कार्य किया जाता है।

भगवान् महावीर जानते हैं कि लोक में कार्मण-वर्गणा नाम के पुद्गल होते हैं। मैं जैसे ही कोई विकारी भाव क्रोध आदि करता हूं, वे पुद्गल आते हैं, मेरे भावों की तीव्रता और मंदता के अनुसार ज्ञानावरणीय आदि कर्मों में बदलकर (परिणमित होकर) मेरे साथ बद्ध और स्पृष्ट हो जाते हैं। जैसे, भारी शक्ति वाला चुंबक किसी स्थान पर रखें तो उसके आसपास जो लोहे के कण, छोटे-बड़े आ-आकर गाढ़ता से चिपक जाते हैं, दूर-दूर के भी आ चिपकते हैं। खींचें तो मुश्किल से हटते हैं। ऐसे मेरा किसी के प्रति तीव्र मोह या मोह-राग या द्वेष का भाव हो तो कार्मण वर्गणा के पुद्गल भारी संख्या में आकर ऐसे चिपकेंगे कि छूटें-न-छूटें। यदि आसक्ति मंद है तो बंध भी मंद होगा, शीघ्र छूट भी जाएंगे। चिपकाने का कार्य लेश्या करती है। लेश्या जीव का भाव ही है।

कर्म पौद्गलिक है–अन्य धर्मवेत्ता या दार्शनिक कर्म तो मानते हैं पर कोई उन्हें संस्कार मानते हैं, कोई जीव की क्रिया का फलस्वरूप कर्म कहते हैं। भगवान् महावीर कर्म को पुद्गल मानते हैं। याद रखें, पुद्गल में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नाम के गुण होते हैं। ये कार्मण वर्गणा के पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, हमारी दृष्टि में नहीं आते। कितने या कितने गाढ़ या मंद कर्म बंधे हुए हैं, हम जान-देख नहीं सकते। वे फल देने आते हैं, उसे उदय या कर्मोदय कहते हैं। जब समक्ष कोई अनुकूल या प्रतिकूल व्यक्ति, वस्तु या स्थिति-परिस्थिति आती है, तब मानें कि वह कर्म का फल आया है। एक व्यक्ति आपको शरीर-सुख, इन्द्रिय-सुख देने आया, समझें, मेरे ही पूर्व में बांधे पुण्य या साता वेदनीय कर्म का फल है। यदि एक व्यक्ति गाली देने, कलंक लगाने आया, शरीर-परिजन-धन-वैभव-पद-प्रतिष्ठा को हानि पहुंचाता है, मानें, मेरे पूर्वबद्ध पाप-कर्म या असाता-वेदनीय कर्म का फल है। वह मात्र निमित्त या निमित्त कारण है। भगवान् महावीर मानते हैं कि जो हमें सुख या

दुख, अनुकूल या प्रतिकूल, साताकारी या असाताकारी स्थिति-परिस्थितियां बनती हैं, मन-भाती (मनोनुकूल या मनोज्ञ) वस्तु मिलती है अमनोज्ञ मिलती है, उसका देने वाला, कोई सर्वशक्तिमान ईश्वर या उसका कोई प्रतिनिधि, या देवी-देवता नहीं है। सुख-दुख अपने-अपने होते हैं, स्वयं ही जीव निश्चित करता है और जैसा बीज वैसा फल मिलता है। बबूल का बीज बोयें तो कांटें मिलेंगे। आम की गुठली बोयें तो मीठे-रसीले आम मिलेंगे। हिंसा से मिथ्यादर्शन शल्य तक के 18 पाप बबूल के बीज और अन्न से नमस्कार पुण्य, आम की गुठली है। अभी मानो, अनुकूल, आज्ञाकारी परिजन मिले, सुख-सुविधा की प्रचुर सामग्री धन-वैभव मिले, पूर्व में, पूर्व के भव-भवों में, (आम की गुठली बोई थी) पुण्य बांध कर आए। यदि ये विपरीत मिलते हैं तो समझें (बबूल का बीज) 18 प्रकार के पाप का बंध करके आए। जब फल आता है तो अनुकूल फल को आप सौभाग्य और प्रतिकूल फल को दुर्भाग्य कहते हैं, वह भाग्य अन्य तय नहीं करता, स्वयं के कर्म बंध का ही फल है।

बंध में मन, वचन, काया की भूमिका शून्य है

मन, वचन, काया–तीनों पुद्गल हैं। इनमें जानने-देखने-अनुभव करने की शक्ति नहीं है। इसलिए कर्म-बंध में इनकी भूमिका शून्य है। जब मैं भाव करता हूं तो उस विकारी भाव को पूरा करने हेतु ये तीनों मेरे भाव के अनुसार ही कार्य करते हैं। अतः जिनको कर्म बंध नहीं करना, वे विकारी भाव, कषाय भाव, क्रोधादि, मोहादि, रागादि नहीं करें। कर्म बंध का मूल मेरा ही विकारी भाव है। क्रोध का भाव आया, मन ने मनन किया, गाली दे रहा है, दे दो-चार थप्पड़। वचन से क्रुद्ध हुए, हाथ से थप्पड़, लात-घूंसे दिए। मन-वचन-काया से जब कार्य हो रहा है, तब मानें, मेरा क्रोध का भाव तो जुड़ा ही हुआ है। मन में आते ही दुगुना, वचन में आते ही वह चौगुना, हाथ-पैर आदि अंगों, इन्द्रियों से करते ही सोलह गुना, ऐसे ज्यामितीय गणित से कर्मबंध बढ़ता जाता है।

सर्वाधिक बंध मुझे मेरी मिथ्या मान्यता या मिथ्यात्व से होता है। मिथ्या मान्यता क्या–यह मानना कि यह शरीर ही मैं हूं, शरीर मेरा है, परिजन, धन, वैभव मेरे हैं, परिवार का कार्य करना, फर्ज, कर्त्तव्य, दायित्व, उत्तरदायित्व, धर्म है। इन्द्रिय-विषयों में सुख है। यही सुख है, मुझे इसमें सुख लगता है। ये सब मिथ्या हैं। कैसे–शरीर कभी मेरा हुआ नहीं, होता नहीं, होगा नहीं। यह कभी मेरे अनुकूल चलता महसूस होता है। वस्तुतः यह अपने स्वभाव के अनुसार निरन्तर

सड़ता-गलता है, अपने वर्ण, गंध, रस, स्पर्श में निरन्तर बदलाव करता रहता है। मरता भी है। मिट्टी का है। पुद्गल है। इसे मैं अपना मान इसमें ममत्व, आसक्ति, इन्द्रियासक्ति करता हूं, उसी से भारी कर्मबंध होता है। इसी से जुड़े सर्व परिजन, धन वैभव भी पराये हें, संयोगी हैं, मिलते-बिछुड़ते हैं, न जाने कौन कब बिछुड़ जाता है या न जाने कब मेरा आयुष्यकाल पूरा हो जाएगा, सब छूट जाते हैं, ये मात्र स्वप्न हैं। इन्द्रिय-विषयों की पूर्ति के लालच में एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, स्वार्थवश बंधे हैं। इन्हें अपना मानना मिथ्या है। उसी से ममता-मूर्च्छा, मोह, मोह राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसादि सभी पाप होते हैं। अतः कर्मबंध का मूल, कर्मरूपी पेड़ की जड़ मिथ्यात्व है। उसी कारण पूरा जीवन असंयम से बीतता है। उसी से कषाय भाव-क्रोधादि होते हैं। राग-द्वेष होते हैं। इन्द्रिय-विषयों में रति-अरति, आसक्ति-वितृष्णा होती है। हर्ष-शोक होते हैं। उसी से प्रमाद आता है। अपने-आपको जानना नहीं, परायों को अपना जानना, महा-प्रमाद। इन्हीं भावों को, विकारों को हवा देने का कार्य करते हैं–मन, वचन और काया (या पांच इन्द्रियां), इन्हें शास्त्रीय भाषा में कहा–मिथ्यात्व, अविरति (रति या अरति), कषाय, प्रमाद और योग।

कर्म का कर्त्ता मैं स्वयं हूं–मानें, मैं शुद्ध आत्मा हूं। आत्मा का स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा। बाह्य में अनुकूल-प्रतिकूल में समभाव, आभ्यांतर में, अपने-आपको जानना-देखना। कोई राग-द्वेष की क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं करना। प्रिय आया, प्रेमी आया तो प्रीति, अप्रिय, शत्रु आया तो द्वेष। ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव को छोड़कर राग-द्वेषरूप क्रिया-प्रतिक्रिया, इसे कहा–विभाव, पर-पदार्थ के कारण होने वाला पर-भाव। कर्म के उदय में आने वाले अनुकूल-प्रतिकूल के प्रति राग-द्वेषादि भाव। ऐसे स्वभाव को छोड़कर विभाव, पर-भाव में जाने से कर्मबंध। यह तीसरा तत्व, बंध का स्वरूप कहा। इस कर्मबंध का कर्त्ता मैं स्वयं (आत्मा) हूं, ऐसा मानें। अन्य व्यक्ति, वस्तु, कर्म, कर्म-फल, जमाना, काल किसी को दोष नहीं देना। वे मात्र निमित्त कारण हैं, उनके अनुसार भाव, भाव-क्रिया करने वाला मैं स्वयं हूं, कर्म बंध का कारण मैं, ऐसा मानें। चाहूं तो बधूं, न चाहूं तो न बधूं। बाधूं तो चतुर्गति के जन्म-मरण का दुख, न बाधूं तो मुक्त।

विकारी भावों से बंध–जब मैं विकार-भाव में जाता हूं तब भाव-बंध कहलाता है। उन विकारों से कार्मण वर्गणा के बहुत या कम (न्यूनाधिक, भावानुसार) पुद्गल आकर, कर्मरूप, स्वयं अपनी शक्ति से वे परिणमित होकर,

ज्ञानावरणादि कर्म रूप में परिवर्तित (पर्यायन्तरित) होते हैं, मुझसे आकर बंधते हैं, मुझे छूते हैं (बद्ध-स्पृष्ट होते हैं) तब वह द्रव्य बंध कहलाता है। ऐसी अनादि की बंध पर्याय है। द्रव्य कर्मबंध के उदय में मैं रागादि भाव-कर्म करता हूं, पुनः द्रव्य कर्मबंध होता है। ऐसी यह अनादि से श्रृंखला बंधी हुई है। दुष्चक्र, चक्रव्यूह, चतुर्गति के चक्रव्यूह में, अपने ही दुर्भाव से बंधता जाता हूं। यह बंध है।

मिथ्या मोहादि से रति-अरति और बंध–कर्म बंध के मूल मिथ्यात्व और अज्ञान के कारण होता है मिथ्या मोहादि। राग-द्वेष या रति-अरति इंद्रिय विषयों के सेवन से है। पांच इंद्रियों के माध्यम से सुख का अनुभव होता है। सुरीले गाने, संगीत की स्वर-लहरी-धुन सुनते ही प्रसन्नता होती है। इसे रतिभाव कहा। कर्ण-कटु, कठोर-गाली सुनते ही बुरा लगता है। इसे अरति कहते हैं। सुन्दर-बल-सौष्टव वाले को, सुन्दरी-अप्सरा जैसी-चौदहवीं का चांद देखते ही, सुरम्य-आकर्षक-मनोहारी बाग-बगीचे-वन-उपवन, प्राकृतिक छटा देखते ही मन-मयूर नाच उठता है। इसे रति भाव कहा। कुरूप, भद्दा चेहरा, वीभत्स, दृश्य देखते ही मुंह फेरते हैं। यह अरति भाव है। बाग-बगीचों में, सुगन्धित स्थान, वातावरण में इत्र-फुलेल सूंघने में अच्छा लगता है, सुहाता है, यह रति भाव है। गंदे नाले, दुर्गंधयुक्त वातावरण में नाक-भौं सिकोड़ते हैं, यह अरति भाव है। स्वादिष्ट भोजन, आहार, व्यंजन-मिठाईयां, नमकीन, विविध मनभाती खाद्य वस्तुएं, पेय पदार्थ से रसनेन्द्रिय का मजा आ जाता है। बेस्वाद, रूखा-सूखा, बिना नमक का आहार-भोजनादि मिले तो अरुचिकर लगता है, भाता नहीं, गले नहीं उतरता है, यह अरति भाव है। आसन-शयन मुलायम-गुदगुदा-मखमली-कोमल हो, गर्मी में ठंडक मिले, सर्दी में गरमी मिले, हवा अच्छी मिले, वातानुकूलन हो तो ऐसे शरीर-सुख को रति भाव कहते हैं। रति-क्रिया हेतु मनोनुकूल साथी-साथिन मिले तो रति भाव अच्छा लगता है। ये सब प्रतिकूल मिलें तो अरुचि-अरति होती है।

विरत हों तो अबंध–इन पांचों इन्द्रियों के लिए व्यक्ति, वस्तु, स्थिति, परिस्थिति पूर्व कर्म के उदय में अनुकूल मिलें तो उनमें राग, रति, हर्ष, आसक्ति होती है। उसमें आसक्त, गृद्ध, लिप्त होते हैं। छककर भोगते हैं, मजा आता है। यदि ये पूर्व पापोदय से प्रतिकूल मिलें या हो जाएं तो द्वेष, अरति, शोक, वितृष्णा (घृणा, तिरस्कार, प्रतिकार) होता है। बुरा लगता है। यह रति या अरति कर्म-बंध का कारण है। मूल-मुख्य हुआ आसक्ति जन्य कर्मबंध। गाढ़ रति-अरति है तो बंध

गाढ़, तीव्र, भारी, दीर्घकाल तक दुखदायी होगा, मंद हो तो बंध मंद होगा, कम काल का होगा। इन्द्रिय विषयों की रति-अरति के स्थान पर विरति में चले जाएं तो बंध नहीं होगा। इन्द्रिय विषयों के सेवन करते भी यदि निर्लिप्त, नीरस, निस्पृह, अभोगी, उदासीन, अनासक्त, अगृद्ध रहे तो बंध न्यूनतम होगा, छूट जाएगा।

कषाय से बंध–इसी कारण से कषाय, क्रोध, मान, माया, लोभ होगा। इन्द्रिय-विषयों की पूर्ति, अहं-पूर्ति के लिए धन-पद-प्रतिष्ठा चाहिए। उसे अर्जित करने हेतु लोभ (तृष्णा, इच्छा, कामना, वासना, वांछा, आकांक्षा, महत्वाकांक्षा) की पूर्ति में छल, प्रपंच, कपट, मायाचारी करता है। उससे मान-सम्मान-प्रतिष्ठा-पूछ-इज्जत बढ़ जाती है। उस पर कोई चोट करें, प्रहार करें तो क्रोध आता है। आवेश, क्रोधावेश, क्रोधावेग, रोष, गुस्सा, क्षोभ, क्षुब्ध, क्रुद्ध होता है। इस चांडाल-चौकड़ी से बंध होता है। तीव्रता अधिक है तो भयंकर बंध होता है। आत्मा के गुणों में हानि होती है।

विकथा से कर्मबंध–अपने पैतृक कुल, मातृ-कुल, शरीर बल, बुद्धि बल, रूप-लावण्य-सौंदर्य, बल-सौष्टव, धन-पद-प्रतिष्ठा-ऐश्वर्य (मात्र शब्द रूप, पांडित्य रूप) ज्ञान (थोथा ज्ञान), अज्ञान-तप पर घमण्ड करना, मान कषाय है। यह कर्म-बंध है। स्त्री के रूप-लावण्य, हाव-भाव, व्यंग-विलास, वाणी, मनोहारी अंग-प्रत्यंग की कथा या पुरुषों के बल-सौष्टव आदि की कथा करना, भोजन-व्यंजनों की बातें करना, कैसे बनता है, खाने में कैसा स्वादिष्ट है, मजा आता है ऐसी कथा करना, अड़ोस-पड़ोस, संघ-समाज, गांव, नगर, राज्य में क्या-क्या बातें हो रही हैं, देश-विदेश में, राजनीति में, राजनेताओं के बीच क्या उठापटक हो रही है ऐसी कथा-वार्ता, आत्मकथा के विपरीत हैं। विकथा बंध का कारण है। इनमें जितना रस-रुचि लेते हैं, सुनने-सुनाने-पढ़ने-देखने में समय-शक्ति बुद्धि लगाते हैं, उतना ही विकार उत्पन्न होता है। आत्मा, कर्म, कर्मफल से चतुर्गतिरूप भवभ्रमण, कर्म के रोकने, नष्ट करने, आत्मानंद में लीन होने, आत्मिक अपूर्व आनन्द का आस्वाद लेने, कर्म-मुक्ति-मोक्ष में आत्म-कथा में बाधा पड़ती है। अमूल्य मनुष्य जन्म और वीतराग-वाणी-श्रवण का आत्मानंद में, आत्मामृत में सराबोर होने से वंचित होते हैं, स्वर्णिम अवसर खो जाता है। उल्टे कर्म-बंध करके अधोगति (नरक-तिर्यंच) में जा दुखी होना पड़ता है। यह कर्म-बंध है।

संज्ञाओं से बंध–खूब, खूब बढ़िया खाने-पीने का भाव आहार संज्ञा है।

पशु-पक्षी (तिर्यंच) में अधिक होती है। मुझे कोई हानि न पहुंचा दे, मेरी आजीविका न छिन जाए, अकस्मात कुछ घटना-दुर्घटना न हो जाए, कोई रोग, शोक, बाधा, प्रतिकूलता न आ जाए, अगले भव में मेरा पता नहीं, क्या होगा, कहीं मैं मर न जाऊं, ऐसा भय लगना भयसंज्ञा है। भिन्न-भिन्न गतियों में भिन्न-भिन्न प्रकार की संज्ञाएं होती हैं। नरक के नारकीयों में सर्वाधिक भय-संज्ञा है। भिन्न लिंगी के साथ मैथुन-सेवन की अभिलाषा, कामना, वासना, भाव मैथुन संज्ञा है। इन्द्रियों में स्पर्शेन्द्रिय का भोग कर्म-बंध में विशिष्ट भूमिका वाला है। मनुष्य गति में सर्वाधिक है। इन्द्रिय-विषयों की पूर्ति-अहंपूर्ति हेतु चल-अचल सम्पदा को एकत्र करना, सहेजना, संरक्षा करना आदि परिग्रह संज्ञा है। देवगति में सर्वाधिक होती है।

यदि मनुष्य गति में, पूर्व के पुण्य-पुण्य के ढेर के कारण आ गए और इन चारों संज्ञाओं में ही मनुष्य भव व्यतीत हो गया तो पशुवत जीवन जीकर, पशु बनना पड़ेगा। संज्ञा की तीव्रता-मंदता से कर्म-बंध है।

प्रमाद से बंध–आलस्य, तंद्रा, उनिंदी, निद्रा, कुंभकर्णी निद्रा, घोड़े बेचकर सोना, प्रमाद है, महाप्रमाद है। इन्द्रियां या शरीर विश्राम लेता है। आत्मा मन के माध्यम से नींद में भी असंख्य विकारी भावों में जाकर कर्म बंध करता है। गरिष्ठ, दुष्पाच्य आहार तनाव, चिंता, परेशानियों से निद्रा में भी कर्म बंध होता है। ऐसे बंध के विविध कारण बताए। बंध तत्व का स्वरूप पूरा हुआ मानें।

(4) पुण्य तत्व–अन्न, पान, लयन, शयन, वस्त्र-पात्र, मन, वचन, काय और नमस्कार, कुल नौ पुण्य तत्व के भेद हैं। जीवों के चार से लेकर दस द्रव्य प्राण होते हैं। कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शेन्द्रिय बल प्राण (पांच), मन-बल, वचन-बल, काय-बल, श्वासोच्छवास (सांस लेना-छोड़ना) और आयुष्य बल-प्राण। पृथ्वीकाय, अपकाय, तेऊकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, इन पांच के एक इन्द्रिय है, स्पर्शेन्द्रिय बल प्राण, काय-बल प्राण, श्वासोच्छवास बल-प्राण और आयुष्य बल प्राण–कुल चार होते हैं। रसना (जिव्हा) बढ़ी तो रसनेन्द्रिय और वचन बल (चाहे न्यूनतम हो)। छः प्राण हो गए। घ्राणेन्द्रय मिली, तीन इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय मिली चार इन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय बढ़ी पांचों इन्द्रियां हो गई। कुल नौ प्राण हो गए। मन मिला (सन्नी या संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच) दस द्रव्य प्राण हो गए। देव, नारकी, मनुष्य-दस प्राण वाले हैं।

दया, अनुकंपा, करूणा से पुण्य-बंध–मानें, मैं ऐसे प्राणधारियों (प्राणियों, जीवों) के प्राणों की रक्षा करता हूं, उनको सुख उपजाता हूं, सुखी करता हूं, उन पर

अनुकंपा (दया, करूणा, अहिंसा) करता हूं। उन्हें दुख-दैन्यादि नहीं देता, उनकी हिंसा-विराधना नहीं करता हूं तो यह शुभ कार्य, मेरे शुभ भावों से होता है। कार्य, प्रवृत्ति, क्रिया (सेवा-सुश्रुषा) मन, वचन, काया (इन्द्रियों) से होती है। उन्हें मेरी प्रवृत्ति, क्रिया, मनोभावों-मंगल भाव, मंगल मनीषा (जैसे उनका कल्याण हो, उनका मंगल हो, उनका उत्तम हो, वे सुखी हों) करने से पुण्य होता है। शुभ से पुण्य। अशुभ से पाप। उन्हें सुख दिया (दुखी नहीं किया) मुझे भी (शरीर) सुख मिलेगा, दुख नहीं मिलेगा। दुख दिया मुझे भी दुख मिलेगा। वह सुख-दुख देने वाला कभी वही जीव आ सकता है। उसके स्थान पर उन असंख्य-अनंत जीवों को मैं दुखी करता हूं, उनकी हिंसा-विराधना करता हूं तो कोई भी अन्य जीव मुझे दुखी करने आ जाएगा। ''सुख दिया सुख होत है, दुख दिया दुख होत।''

पाप को पाप न मानें, बिना पश्चाताप जीवन का अंत, अब कर्म निकाचित है : महावीर का दृष्टांत–भगवान् महावीर ने पूर्व के त्रिपृष्ट-वासुदेव के भव में नाच-गाने बंद करवा देना, मुझे नींद आ जाए तो, अंगरक्षक ने स्वयं भी उसका मजा लेने हेतु चालू रहने दिया। नींद खुलते ही वासुदेव-तीन खंडों के अधिपति–राजा आगबबूला हो गए, सुनता नहीं है, मैं राजा, मेरे आदेश का पालन नहीं किया, दुष्ट ने। अरे, संतरी सीसा गरम करके इस बहरे के कान में भर दो। वह तड़फते-तड़फते दम तोड़ देता है। राजा उसी समय मान में चूर, क्रोध में, राजापने के अहंकार में, एक व्यक्ति को मरता-तड़फता देख भी 'मैंने ठीक किया' पाप को पाप नहीं माना, घोर, गाढ़, निकाचित (जैसा बांधा वैसा उदय में आएगा ही, फल देगा ही, ऐसा) कर्म बांधा। जब वे वर्धमान राजकुमार बने, फिर महामुनि बन, जंगल में ध्यानमग्न, तप में लीन खड़े थे। वहीं अंगरक्षक, आज ग्वाले के रूप में, बैलों की रखवाली के आदेश को नहीं सुनने वाले 'बहरे' महावीर महामुनि के कान में कीलें ठोंक रहा है। वही व्यक्ति भी आ सकता है, कोई भी फल देगा ही। कर्म-फल देने वाला, लेखा रखने वाला, अन्य कोई ईश्वर नहीं, कोई देवी-देवता नहीं होते। चलते-चलते छोटे से पत्थर से ठोकर लगी, गिर पड़ा, हड्डी टूट गई, या मृत्यु हो गई कर्म तो (असाता वेदनीय का स्वयं बांधा था) पत्थर निमित्त बना असाता, दुख, रोग आ गया। आयुष्य कर्म स्वयं पूर्व भव में मैंने ही बांधा था, पत्थर (या अन्य किसी भी कारण) पूरा हो गया।

दूसरे जीवों को सुख उपजाने से पुण्य। जो धन, शक्ति, समय आप, अपने माने जाने वाले शरीर या इन्द्रिय सुख में लगा रहे हैं, मोहवश मोही-रागी परिजनों

के लिए लगा रहे हैं, अशुभ, पाप बंध होगा। वही यदि मूक पशु-पक्षियों, छोटे जीवों, असहाय, दीन-दुखी मनुष्यों के लिए लगाते हैं, उन्हें (शरीर) सुख मिलता है, आप पाप के स्थान पर पुण्य बंध करेंगे। पाप का फल तिर्यंच गति, भयंकरतम पाप का फल नरक गति में जाकर (दुखी होंगे)। पुण्य के फल से ही वर्तमान का मनुष्य भव और बुद्धि, इतनी सुख-सुविधा। अधिक पुण्य तो देव गति, इच्छा करते ही पूर्ति हो जाए ऐसा सुख।

पुण्य कितने प्रकार से–ऐसे शुभ भाव और उनकी पूर्ति हेतु कार्य या प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। मूल में मानें–दूसरे जीव के शरीर की साता, सुख। भूखा है, भोजन देना, प्यासा है–पानी पिलाना, ठंड से ठिठुर रहा है, वस्त्र देना, विश्राम-विश्रान्ति हेतु स्थान देना, रुग्ण है–उपचार करना-करवाना, स्व-शरीर से सेवा करना, अन्य सुख देने वाली वस्तुएं सुविधाएं देना, धन-समय नहीं है तो शरीर से सेवा करना, वह भी नहीं है तो मात्र मन से उसके प्रति शुभ भाव करना, हितचिंतन करना, इसका भला, सब जीवों का भला हो, वचन से उसे सांत्वना, ढांढ़स, धैर्य बंधाना, साता जन्य पवित्र वचन बोलना। अन्तिम है, मानवीय गुण है, भद्र पुरुष-स्त्री है, गुणवान है, आत्मगुणों का धारक ज्ञानी है, धर्ममय जीवन जीता है, उसे नमस्कार करना, ऐसा करके शुभ भावों से पुण्य होता है, सुखपूर्वक भोगा जाता है।

प्रतिफल की कामनारहित पुण्य है अन्यथा पाप

विशेष–उक्त सभी कार्य, निस्वार्थ भाव से, बिना किसी मोह-ममता के, बिना किसी प्रतिफल, प्रतिदान, सुख की प्राप्ति हो मुझे, ऐसे भावों से रहित हो। उससे या उस कारण किसी से पुनः सुख मिलेगा, ऐसी लेशमात्र भी कामना न रहे। कोई प्रशस्ति गान, अभिनन्दन, वाहवाही, जय-जयकार-प्रशंसा मिले–ऐसा भाव न आए। उस दान, सेवा आदि को गुप्त रखें। प्रकट करे, नाम, यश (नाम यह-घोषणा) चाहे, हो तो मान, लोभ कषाय, पाप बंध करेगा। ''नेकी कर कुएं में डाल'' भला कर भूल जा। बदला नहीं मांगे। लाभ मिला वह उस उपकारी का उपकार मानें। उपकारी भूल जाए।

(5) **पाप तत्व**–पुण्य-पाप की अपनी-अपनी परिभाषा नहीं होती। पाप तो पाप है, कर्ता अपने तर्क से, बहाने करके, अपने सांचे के अनुसार मानो, उसे पाप नहीं मानता है, तो वह पाप नहीं है, ऐसा नहीं कहेंगे। दृष्टांत : अपने नन्हें-मुन्हों से

वात्सल्य, बच्चों से स्नेह, मित्रों, जीवन-मित्रों से प्रेम-प्यार, बड़ों के प्रति सम्मान, आदर, आज्ञा पालन, सेवा आदि परिवार, समाज, देश के नियमों (मापदंडों) में, कानून में अच्छे माने जाते हैं। आचरणीय हैं। परन्तु इन सबके पीछे, स्वार्थ है, मोह है, बदले में, पहले मिले या भविष्य में मिलेंगे–उससे शरीर या इन्द्रिय सुख मिलेंगे, इसलिए 'अपने माने' उनसे ये सब भाव कर रहे हैं। यदि पृष्ठभूमि में स्वार्थ है, मोह है, इन्द्रिय-सुख की पूर्ति की चाह पड़ी है तो ये सब पाप हैं।

पाप-भाव 18 प्रकार से होते हैं। प्राणातिपात (हिंसा), झूठ, चोरी, मैथुन-सेवन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान (दूसरे पर कलंक, आरोप लगाना), पैशुन्य (चुगली करना), पर-परिवाद (दूसरे की निंदा, आलोचना, बुराई करना, ईर्ष्या करना), रति, अरति, माया-मृषावाद (कपट सहित झूठ बोलना), मिथ्या दर्शन शल्य (या माया, निदान, मिथ्या-दर्शन शल्य), कुल 18 हैं।

सप्त व्यसन-महापाप-नरक में धकेलने वाले–इनमें कुछ ऐसे हैं जो घोर हैं, तीव्र हैं, व्यसन बन जाते हैं, वे कुव्यसन कहलाते हैं। महापाप, महाबंध, तीव्रतम कर्म-बंध कराने वाले हैं। उनके सेवन से नरक के भयंकर-से-भयंकरतम दुख और बारम्बार अधोगतियों, चतुर्गति में अनन्त जन्म-मरण का दुख आता है, भोगना पड़ता है। परम ज्ञानी ने जाना-देखा है। मानो तो ठीक, न मानो, किसने देखा, पर-भव, किसने देखा-नरक, ऐसे नास्तिक बन, सेवन करते रहो तो ज्ञानी को कोई हानि नहीं, बचो तो ज्ञानी को कोई लाभ नहीं। अपने हिताहित का विवेक रखने वाला ही मनुष्य कहलाता है, अन्यथा तो मनुष्य के चोले में पशु या राक्षस है। ये कुव्यसन सात हैं–शिकार, मद्य (मादक पदार्थ पीना, खाना) मांस-भक्षण, पर-स्त्री-कन्या-भोग सेवन, वेश्यागमन, जुआ और महाचोरी।

शिकार–पांच इन्द्रियों वाले प्राणियों, पशु-पक्षियों, वन्य-पशु-पक्षियों का शिकार अब अप्रचलित है, कानून से पूरा प्रतिबंधित है, रोक है, दंडनीय अपराध है। इन पशुओं से, शिकार करके, प्राप्त अंग-अवयवों का व्यापार, बैठक कक्ष में सजाना, उनसे बनी वस्तुओं का उपयोग करना, आज अप्रत्यक्ष शिकार है। हाथी-दांत की वस्तुएं, हिरन, सिंह, बाघ के मुंडक, चमड़ा, सुरक्षित-संरक्षित रखा पूरा शरीर, नाखून आदि वस्तुओं का उपयोग शिकार में मानें।

मदिरा पान आदि–जिस खाद्य-पेय पदार्थ के खाने-पीने से मदहोश, बेहोश, मूर्च्छा, गहन-निद्रा, नशा आता है, वह मद्य-खान-पान कुव्यसन है। देशी, ठर्रा,

गुड़-महुए को सड़ाकर, बीयर से व्हिस्की खाद्यान्नों, अंगूरों को सड़ा-सड़ाकर बनता है। सड़ाने से मादकता उत्पन्न करने वाले पेय बनते हैं। मादकता में आत्मा अपना आपा ही भूल जाता है। शराब, गांजा, भांग किसी भी रूप में, न्यूनाधिक मात्रा में लेते हैं, फिर वह आदत बन जाती है, छूटती नहीं है। अफीम, अफीम के डोडे या चूरा-पानी में गलाकर लेना, अफीम से बने सभी रसायन, अर्क (अल्कलीन-स्मैक आदि) भयंकर नशीले हैं। तंबाखू खाना, चिलम, सिगरेट, सिगार, बीड़ी किसी भी माध्यम से पीना, मादकता (मूर्च्छा) पैदा करते हैं। मादक पदार्थ मूर्च्छित करते हैं, भयंकर प्रमाद में, कामुकता, कामान्धता में ले जाते हैं। इतने तीव्रतम विकारी-भाव से भयंकरतम बंध, महापाप का बंध होता है।

पीना-पिलाना को फैशन माना—नरक में जाना—उच्च-सामाजिकता-प्रतिष्ठा का, धन-ऐश्वर्यशाली बनने, दिखाने का आधुनिक मापदण्ड है। ऊंचा गिना जाने लगा है। सभा-सोसायटी-समारोह में ऊंचा बनने-दिखाने हेतु, ऊंची किस्म की, महंगी शराबों का चलन, पीना-पिलाना 'फैशन' हो गया है। कुव्यसन, महापाप, पाप मानना तो दूर, उसे सद्-कार्य, सद्-प्रवृत्ति, अच्छा माना जाने लगा है। आधुनिक भोगवादी शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता का भयंकरतम दुर्गुण-दुष्फल है। नरक में ले जाने वाला पाप है।

बचो महापाप से—बहाने-अपना उल्लू सीधा करने हेतु, उच्चासीन को पटाने-प्रसन्न रखने हेतु पीना-पिलाना पड़ता है। उच्च कुलीन वर की बरात में आए बरातियों को प्रसन्न रखने, उनके-अपने ऐश्वर्य प्रदर्शन में पिलाना पड़ती है। दकियानूसी नहीं, प्रगतिशील, अत्याधुनिक दिखाने के लिए, ऊंची पढ़ाई-नौकरी-उद्योग वालों-वालियों को पीना-पिलाना पड़ती है। कुव्यसन, महापाप तो महापाप है, कभी-कभार पीली, थोड़ी सी पी ली, स्वास्थ्य ठीक रहता है, गरमी रहती है, ऊंची पढ़ाई वाले ऐसा भी कहने लगे हैं, कहने लगी हैं, जैन कुल में जन्मे नवयुवक-नवयुवतियों के ये हाल-बेहाल हैं। बचो। महापाप, महाकर्म बंधकारक है।

मांस-भक्षण—पांच इन्द्रियों वाले प्राणियों, पशु-पक्षियों को मार कर ही मांस मिलता है। मरे हुए का कोई नहीं खाता। दसों द्रव्य प्राण विकसित कर लेने वाला वह प्राणी, उन अनन्त काल में जन्म-मरण कर उन्नति करके आया और कोई जिव्हा-लोलुपता में, शरीर को बलवान बनाने के भ्रम में पड़ उसे काटता-कटवाता है तो उसे असह्य पीड़ा होती है। उसे दुखी, महादुखी कर खाने वाले को नरक गति का बंध होता है। मांसाहार में अंडा, मांस, मछली से बना, मिश्रित आहार आता है।

अंडा उत्पादकों ने करोड़ों-अरबों का उद्योग लगाकर लाखों-करोड़ों लगाकर भारी विज्ञापन किया है। उसमें उसे शाकाहारी बताकर अहिंसा प्रेमी, दयालु जनमानस को भी भ्रष्ट करने का दुष्कृत्य, स्वार्थवश किया है। पांच इन्द्रियों वाली मुर्गी के गर्भ से जन्मने वाला पंचेन्द्रिय प्राणी है–अंडा। मुर्गे के जीन मिश्रित आहार मुर्गियों को दिया जाता है। अंडा होते ही उसे मां से अलग कर देते हैं, सेने का अवसर नहीं देते अतः वह बच्चा नहीं बन पाता। वह एक दसों द्रव्य प्राणों वाला, पंचेन्द्रिय जीव है। उसे भी मरने से भारी वेदना होती है। मछली पानी से अलग करते ही तड़फ-तड़फ कर मरती है। मुर्गे पंचेन्द्रिय प्राणी हैं। बकरे-बकरी, भेड़, भैंस, भैंसे, गाय-बैल-बछड़ों को काटकर कटवाकर खाना-खिलाना कुव्यसन है।

घोरतम हिंसाकारी है। जैन आगमों के अनुसार काटने-कटवाने, खिलाने-खाने वाले दोनों घोर नरक में जाकर अनन्त जन्म-मरण करते रहेंगे, ऐसा भयंकर दुष्फल आया है। कई विषम रोगों, प्राण लेवा रोगों का भी कारण मांसाहार है। उसमें शक्तिदायक प्रोटीन होते हैं, वह भी झूठ है, भक्षणकर्त्ता खूंखार क्रूर हो जाता है। पशु, राक्षसी वृत्ति में आ जाता है। आज जैन नवयुवक-नवयुवतियों की ऊंची पढ़ाई ने उन्हें नास्तिक बना दिया, स्वच्छंद भोगवादी बना दिया। मांसाहार को भी अब ऊंची सोसायटी का मानदंड बना दिया। खाते-खिलाते गर्व करते, इतराते हैं, शान समझते हैं। घोर पाप, भयंकर कुव्यसन है, भवों-भवों भटकाने वाला, अधोगति में ले जाने वाला है। उपचार के लिए, मरणासन्न को बचाने, डॉक्टर ने मांसमिश्रित औषधि या मांसाहार, मछली तेल आदि बताएं तो "अपने बंदे के प्राण बचाने के लिए दे दिया तो क्या हो गया", ऐसे कुतर्क तो जैन युवक, अत्याधुनिकाएं मुझसे भी कर चुके हैं। उससे लगता है कि यह वीभत्स, घिनौना, नारकी का बंध करवाने वाले कुव्यसनी, पक्षपाती महावीर के अनुयायियों के कुलों में जन्म ले चुके हैं। करूणा आती है कि विशिष्ट पुण्य से ऐसा शाकाहारी कुल मिला और वीतरागी की वाणी-श्रवण-पालन का अवसर-शक्ति आदि मिले पर कुमार्ग पर जाकर अनन्त भव के अनन्त दुख बढ़ा रहे हैं। बचो, बचाओ।

पर-स्त्री, पर-कन्या से भोग, पर-पुरुष से भोग–चार्वाकवादी–खाओ, पीओ, मौज करो, किसने देखा, स्वर्ग-नरक, आत्मा-परमात्मा–ऐसे मानने वाले, जैन कुलों में जन्मे नई पीढ़ी वालों ने, विवाह-पूर्व शरीर संबंध बनाने को भी उच्च कहलाने वाली सोसायटी वाला माना, शान बघारने लगे, उसे सामान्य मानने लगे। चारित्रिकपतन की पराकाष्ठा हो गई। उसके दुष्परिणाम गर्भपात, कई रोग,

प्राणलेवा रोग आदि तो हैं परन्तु भयंकरतम पाप-बंध है, नरक-तिर्यंच, पुनः-पुनः नरक-तिर्यंच-अधोगति में, चर्तुगति में ले जाने वाला है। परम ज्ञानी ने ब्रह्मचर्य को परम तप कहा, उससे अक्षय पद, मोक्ष प्रदाता कहा। स्वयं नौ वाड़ सहित तीन करण तीन योग से ब्रह्मचर्य पाला फिर बोले कि असंयम में, स्वच्छंद यौनाचार में जाकर क्यों अनन्त जन्म-मरण के अनन्त दुख भोगना चाहते हैं। इन महादुखों से बचो। परन्तु खेदाश्चर्य है कि महावीर के ऐसे सदाचारी कुलों में ऐसे कुलदीपक-कुलदीपिकाएं जन्म ले चुकी हैं जो विवाह पूर्व, विवाह पश्चात पर-स्त्री या पर-पुरुष गमन को 'फैशन', शान मानकर आधुनिक, अत्याधुनिक, प्रगतिशील दिखाने में गर्व कर रहे हैं। परम ज्ञानी के सत्य प्रवचन को मानो और ऐसे व्यभिचार-दुराचार से पूर्णतः बचो, भवों-भवों भटकने के महापाप, कुव्यसन से बचो, बचाओ।

वेश्यावृत्ति–जो किसी की पत्नी नहीं, पैसे के बदले शरीर बेचने वाली स्त्री, भोग वासना, धन लिप्सा पूर्ति में जो वृत्ति अपनाती है और जो-जो उनके साथ भोग भोगते हैं, वे सभी इस वेश्यावृत्ति के महापाप में पड़कर नरक-तिर्यंच में बार-बार जाकर चतुर्गति भ्रमण बढ़ा रहे हैं। आधुनिक युग में, आधुनिक रूप बन गए हैं।

जुआ–जिस घटना, विषयवस्तु में दोनों पक्षों को कोई हिताहित नहीं है, उस पर शर्त लगाना, ऐसा हो या न हो तो अमुक राशि एक-दूसरे को देगा-लेगा। चिड़िया (पक्षी) उड़ रहा है, अब इधर मुड़ेगा या उधर, आज वर्षा की बूंदें गिरेंगी या नहीं (पतरे), अमुक जीतेगा या हारेगा, आज तो अमुक फिल्मी सितारे को सर्वोच्च न्यायालय जमानत स्वीकार करेगा या नहीं, अमुक बल्लेबाज शतक बनाएगा या नहीं, अमुक फिल्म तारिका का विवाह अमुक से होगा या नहीं या तलाक देगी या नहीं, ताजमहल विश्व का प्रथम आश्चर्य माना जाएगा या नहीं आदि घटनाओं पर एक व्यक्ति एक रुपया लगाता है (लगाई वाल), बदले में घटना घटने-न घटने पर दूसरा दस रुपये देगा (खाई वाल) कहलाता है। चौके-छक्के वालों के खेलों पर करोड़ों-अरबों के सट्टे होते हैं। अमुक अंक खुलेगा या अमुक–ऐसे जुए तो अब सामान्य हो गए हैं। लगाईवाल में गरीब, मजदूर किसान से लगाकर करोड़पति और खाईवाल अरबोंपति होते हैं। ये सब कानून से निषिद्ध अपराध हैं पर खूब खेले जा रहे हैं। सोने, चांदी, कंपनियों के अंशपत्र (शेयर) के सट्टों में तो पूरा देश लगा है, हजारों लोग, आम व्यक्ति बरबाद होते और अरबोंपति-विदेशी कंपनियां,

शेयर-बाजार को ऊंचा-नीचा करने में निपुण करोड़ों रुपए कमाते हैं, विदेशी कंपनियां लूट-ले जा रही हैं।

जो वस्तु निश्चित वादे के समय पर दी-ली जाएगी, विक्रय मूल्य भुगतान होगा, वह वैधानिक है परन्तु वायदा-तिथि पर मूल्य का अन्तर ले-देकर सौदा निपटा दिया जाता है, वहीं वह वैध सट्टा, जुआ बन जाता है। ऐसे सभी जुओं में जैन कहे जाने वाले भी खूब लगे हैं, बरबाद होते भी देखे गए हैं। सहज, बिना परिश्रम के, रातों-रात करोड़पति-अरबपति बनने की ललक, लालच, आकर्षण, पागलपन में होने वाले ये जुए महावीर के शासन में भयंकरतम, नरकगति का, नरक-तिर्यंच पंचेन्द्रिय-बार-बार चतुर्गति-भ्रमण के कारणरूप कर्म बंध करवाता है। इस महापाप-कुव्यसन से बचो-बचाओ।

चोरी (महाचोरी)–चोरी 18 पापों में है। राज्य के कानूनों या राज्याधिकारियों की आंखों में धूल झोंककर, लाखों-करोड़ों की करचोरी करना, बेनामी सौदे करना, माल, धनोपार्जन हेतु कोई भी चल-अचल सम्पदा ऊपर-की-ऊपर खरीदना-बेचना, कहीं कोई लेखा नहीं, कर-चुकाना नहीं-ऐसी काली-कमाई का अनुपात 90 प्रतिशत और सच्चे लेखे लिख कर चुकाकर कमाई का प्रतिशत दस प्रतिशत कहा जाता है। अरबों रुपए राजनेताओं के यहां लोग छप्पर फाड़कर डाल जाते हैं। अवैध को वैध अनियमित को नियमितीकरण करवाने से करोड़ों के वारे-न्यारे होते हैं, काफी हिस्सा ऐसा "वैध है" का **रुपया** लगाने वाले राज्याधिकारियों, सचिव-मंत्री, मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री भी डकार जाते हैं। भावी बजट में लगने वाले कर, आयात-निर्यात नीति आदि के सुराख, वे ही अधिकारी पहले किसी को निकालकर दे देते हैं, व्यापारी करोड़ों-अरबों कमा लेते हैं, वे सरकार के वित्त-अधिकारी-सचिव-मंत्री भी करोड़ों कमा लेते हैं। घपले, गबन, घोटाले, कांड कई नाम हैं। कोई हर्षद मेहता जैसे बैंक उच्चाधिकारियों, वित्त-सचिव-मंत्री आदि से मिल करोड़ों रुपयों की हेराफेरी करने वाले भी हुए हैं। भगवान् महावीर के शासन में यह भयंकर कुव्यसन, नरक-तिर्यंच में दुख, महादुख देने वाला, भवों भव भटकाने वाला महापाप कहा गया है। बचो बचाओ।

पाप को पाप मानो–कोई अपने सांचे बनाकर स्वयं ही, स्वयं को तर्क देकर, काल, जमाना आदि का बहाना कर, ऐसे कुव्यसनों को, 18 पापों को, कुव्यसन या पाप न माने तो न माने, इससे वह पाप नहीं है, ऐसा नहीं होगा। कर्म बंध, पाप बंध तो होगा। वैसे तो व्यावहारिक जगत में भी ऐसे काले कारनामों की विभीषिकाओं के

भयंकर दुष्परिणामों से जनमानस दुखी तो हो रहा है। अतः सर्वज्ञ-सर्वदर्शी महावीर ने जो अपने ज्ञान-दर्शन में जाना-देखा-अनुभव किया, वह मानव समुदाय माने तो उसका भला, वर्तमान भी सुखी और आत्मानंद भी, परभव भी परमानंदमय होगा। न मानें तो उन परमवीतरागी शुद्ध-सिद्धात्मा की कोई हानि नहीं होने वाली है।

राक्षसी प्रवृत्ति है–जीव हिंसा : हिंसा की सूक्ष्मता–18 पापों में वर्तन से पाप कर्म बंध और दुर्गति के दुख-दूसरे जीवों को क्रूर परिणामों, दुर्भाव बिना हानि नहीं हो सकती। एक जीव को मारकर, काट-कत्ल करके-करवाकर खा जाना, एक पाशविक-राक्षसी प्रवृत्ति है। घोर हिंसा है। अन्य कई छोटे जीवों को भी मनुष्य सकारण या निष्कारण, किसी प्रयोजन से, बिना प्रयोजन के-खेल में, मनोरंजन हेतु, लापरवाही से, अविवेक से दुखी करता है, मारता है, यह भी हिंसा है। सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, सुखी होना चाहते हैं, दुखी नहीं होना चाहते। सभी को अपने प्राण प्यारे लगते हैं। भगवान् महावीर एकमात्र धर्मवेत्ता हैं कि पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय (पांच स्थावर काय) को जीव मानते हैं। क्रमशः पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, जिनका शरीर है और उनके साथ असंख्य जीव होते हैं, उन्हें भी, जीवान्त होने से, मनुष्य जैसी वेदना होती है। पौधे का, पेड़ का आंखों से दिखने वाला शरीर है, उसके साथ असंख्य, अनन्त भी, जीव होते हैं। भगवान् महावीर कहते हैं, उन्हें भी बचाओ, संहार मत करो, बचाओ, जिन गृहस्थों को बचाना असंभव-कठिन लगता है, उन्हें भी उपदेश है कि मानो कि वह हिंसा तो है, विवेक रखकर, न्यून-से-न्यूनतम करो।

विभावभाव में जाना हिंसा है : त्रस जीवों की हिंसा से बचो–दो-तीन-चार-पांच इन्द्रिय तिर्यंच गति के जीव हैं। इनकी भी हिंसा-विराधना मत करो। पाप बंध है। अभी नहीं बच पा रहे हो तो प्रथमतः मानो कि हिंसा तो है, पाप तो है, बचना है, विवेक रख न्यूनतम करते जाओ। भगवान् महावीर की हिंसा-अहिंसा की व्याख्या कितनी गहन-सूक्ष्म है कि यदि मैंने दूसरे जीव को हानि पहुंचाने का मात्र भाव कर लिया, मन-वचन-काया से कोई क्रिया नहीं की, उसे हानि भी नहीं पहुंची परन्तु उस विकार भाव (विभाव, पर-भाव) से मेरे ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य, ऐसे निज भाव प्राणों, निज गुणों की हानि हो गई। कर्म बंध हो गया। ज्ञाता-द्रष्टा भाव में रहो तो भाव प्राणों की रक्षा, विभाव में जाओ तो भाव प्राणों का अतिपात। ऐसा अहिंसा परमधर्म है।

सत्य का पारमार्थिक स्वरूप–सत्य को सत्य और असत्य को सत्य कहना-बोलना यह सत्य धर्म है। इससे उल्टा-असत्य या झूठ पाप है। सत्य और असत्य-मिश्र वचन भी पाप है। सत्य और व्यवहार-सत्य-वचन बोलो। मूल में-सत्‌रूप आत्मा है, सत्-स्वरूप जिसने जान-देख-अनुभव कर लिया, ऐसे सत्‌गुरु, सद्‌गुरु सत्य है, सत्‌स्वरूप आत्मा को पूर्णतः पा चुके-शुद्ध कर चुके वे परमात्मा, ये तीन सत्य हैं। शेष सब असद्‌रूप हैं। यह शरीर, उससे जुड़े परिजन, धन-वैभव आदि असद्-रूप हैं, पुद्‌गल की पर्याय है, माया है, छलावा है, स्वप्न है ऐसा जानकर, इन सबसे पूर्णतः पृथक त्रिकालसत्य स्वात्मा को जानना-देखना-अनुभव करना यह परमार्थ सत्य, उत्तम सत्य धर्म है।

चोरी–दूसरे के अधिकार-नियंत्रण-आधिपत्य की वस्तु उसकी अनुमति के बिना अपनी बना लेने के लिए उठाना-हटाना-यह चोरी का पाप है। भारतीय किसान का एक आम सिद्धान्त, कूट-कूटकर उसमें भरा है–जिसका कमाया (उपजाया) वह खाय। दो किसानों के खेत पास-पास हैं। बीच में कोई बाड़ है ही नहीं। एक की फसल कुछ कमजोर है, दूसरे की बढ़िया है। वह दूसरे की फसल पर ललचाई-ईर्ष्यालु दृष्टि भी नहीं करता, उसके परिश्रम-सह-भाग्य की सराहना करता है। एक अनपढ़-पिछड़ा कहा जाने वाला किसान-मजदूर है, आधुनिक पढ़े-लिखे-उच्चासीन-ऐश्वर्यशाली, उनके सामने कहीं नहीं टिकते, यह महावीर का अचौर्य धर्म है। इसका गहनतम स्वरूप है–एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का अधिपति-स्वामी नहीं हो सकता। मैं (आत्मद्रव्य) पुद्‌गल (दूसरे द्रव्य) के एक परमाणु पर भी स्वामित्व, आधिपत्य नहीं कर सकता, ग्रहण नहीं कर सकता। उसे अपना बना लेने का भाव-मात्र चोरी है।

अब्रह्म या मैथुन सेवन पाप है। पारिवारिक-सामाजिक-राजनैतिक मापदंड में एक पति-एक पत्नी, एक-दूसरे में संतुष्ट रहते, संयमित मैथुन सेवी भी प्रशंसनीय-अनुमत है, मान्य है, अपराध नहीं, परन्तु आध्यात्म में पूर्ण ब्रह्मचर्य को धर्म और पति-पत्नी के मैथुन-सेवन को भी पाप कहा है। महावीर कहते हैं उस महापाप से भी बचो। फिर सप्त-कुव्यसन में वर्णित पर-स्त्री, पर-पुरुष गमन, बिना अनुमति धन-पद बल से पर-स्त्री (कन्या) से गमन तो भयंकरतम (कुव्यसन) महापाप कहा है। पति-पत्नी भी संयमित-परिमित करते-करते ब्रह्मचर्य अपनाएं, पूर्ण ब्रह्मचर्य तीन करण-तीन योग से, यह महावीर के धर्म-दर्शन में एक आदर्श है। लक्ष्य है। ऐसा ब्रह्मचर्य अक्षयपददाता, मोक्ष प्रदाता, तपों में सर्वोत्तम तप है। ब्रह्म

अर्थात् शुद्धात्मा, मात्र ज्ञाता-द्रष्टा-स्वरूपी, ऐसी चर्या, ऐसी ही स्वरूप-रमणता हो जाए, वह उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है।

परिग्रह पाप है–परिग्रह, धन-वैभव, ऐश्वर्य, ऋद्धि-सिद्धि-सम्पन्नता, भंडार भरने हेतु हिंसा, झूठ, चोरी, छल, प्रपंच, कपट, मायाचारी, दुहरे लेखे, ऊपर-ही-ऊपर सौदे करने रूप आरम्भ-समारंभ से जुड़ता है। यह परिग्रह पाप है। उसमें ममता-मूर्च्छा ही मूलतः पाप है। कोई कहे कि, परिग्रह तो है पर मूर्च्छा मेरी उसमें नहीं है तब उससे पूछें कि फिर इतना परिग्रह क्यों जोड़ा, निरंतर बढ़ाते जा रहे हो, तृष्णातुर हो, मृग जैसे संसार में दौड़ते-हांफते-दम क्यों तोड़ रहे हो? क्या एक परमाणु भी मेरा हो सकता है? क्या? सोचा कभी इतनी आपाधापी, छीना-झपटी, अगड़े-पिछड़े, धनिक-निर्धन, धनी-सत्तावान-निर्धन देशों के बीच क्लेश, कलह, संघर्ष, युद्ध-महायुद्ध-नरसंहार इस परिग्रह महापाप के कारण हैं। प्राकृतिक सम्पदा पर मेरा, मेरे समूह का अधिक-से-अधिक स्वामित्व-आधिपत्य हो जाए, उसका दोहन, अति दोहन कर मैं, मेरा परिवार, मेरा समूह खूब सुख भोगे, यह महापरिग्रह का महापाप सीधे नरक गति में, फिर तिर्यंच पंचेन्द्रिय, फिर वैसा ही, ऐसे चतुर्गति रूप अनन्त जन्म-मरण का अनन्त दुख देने वाला है। अतः महावीर स्वयं सर्व परिवार, धन वैभव, राज वैभव, सुख का त्याग कर संयम लेते हैं। उससे पूर्व उसी प्रजा से लूट-लूटकर वसूली कर एकत्र राजकोष भी एक वर्ष तक निरन्तर पुनः प्रजा को लुटाकर-लौटाकर पूर्ण अपरिग्रह, नग्न दिगम्बर, अकिंचन्य (अत्यन्त गरीब) महाभिक्षु हो जाते हैं। कर पात्री, एक बार रूखासूखा वह भी साढ़े बारह वर्ष में मात्र 349 दिन आहार करने वाले विश्व में ऐसे कोई धर्मवेत्ता-दार्शनिक नहीं मिल पाते। तब वे अपरिग्रह का उपदेश देते हैं। उनके पचास हजार अपरिग्रही संयमी, संयम साधक होते हैं। लाखों परिग्रह सीमित करते हैं, यह अपरिग्रह का सिद्धान्त विश्व को अनुपम-प्रेरक भेंट है।

राग भी पाप है–शरीर को साता, सुख पहुंचाने वाले, इन्द्रिय-विषयों के सुख की पूर्ति में सहायक-साधक व्यक्तियों के प्रति, स्नेह-अनुराग, वात्सल्य, प्रीति, प्रेम, आदर-सम्मान सेवाभाव होता है, यह राग या प्रीति का बंधन राग पाप है। वह राग स्पर्शेन्द्रिय भोग में सहायक के प्रति रति, रति क्रीड़ा बन जाता है। महापाप माना गया है।

द्वेष पाप है–उक्त के विपरीत व्यक्ति मिलें तो रागादि का विलोम द्वेष होता है। वह शत्रुसम लगता है, चाहे सगा भाई, मां-बाप, पति या पत्नी ही क्यों न हो।

राग मीठा जहर है, द्वेष खारा-कड़वा जहर है। कर्म बंध तो दोनों में होता है। राग पाप का भान नहीं आता। जो पारिवारिक मानदंडों में पवित्र, मंगल कहा हो, कैसे पाप है, रुचता नहीं परन्तु उसी राग के पीछे द्वेष, वैर-वैमनस्य-विरोध-मतभेद-घृणा-तिरस्कार-ईर्ष्या, बैर की गांठें, क्लेश, कलह, संघर्ष, युद्ध-महायुद्ध, हिंसा का उग्रतम रूप। ऐसे राग-द्वेष को भगवान् महावीर पाप कहते हैं। कर्मरूपी पेड़ के मूल या बीज हैं। यह राग-द्वेष अज्ञान से होता है। अज्ञान क्या? इन सब परायों को अपना जानना। उसी से मोह, जो भयंकर कर्म बंध का कारण गिना है।

माया पाप–यदि राग है तो उसकी पूर्ति धन, वैभव, ऐश्वर्य, पद से होती है। वह पाने हेतु छल, प्रपंच, मायाचारी, गूढ़माया-षड़यन्त्र आदि करना-माया है। उससे उस लोभ की, धन की तृष्णा की पूर्ति होती है। उसी से रति सुख, इन्द्रिय सुख होता है। अतः राग में माया और लोभ कषाय आ गया है। द्वेष है तो उसके प्रति क्रोध आता है। मान-भंग हो अहंकार पर चोट लगे तो क्रोध की ज्वाला निकलती है।

कलह, निंदा, चुगली, रति-अरति–धन-सम्पत्ति, कार्य के बंटवारे में क्लेश होता है, वही कलह, वाद-विवाद, संघर्ष, वैर-वैमनस्य, युद्ध, वाक्युद्ध आ जाता है। उसी में एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाए जाते हैं, एक-दूसरे को नीचे गिराया जाता है, पछाड़ा, जीता जाता है। स्वयं ऊंचा बताने, अन्य को, अन्य की दृष्टि में नीचा, नीच दिखाने हेतु चुगली, निंदा-बुराई होती है। उसी हेतु षडयंत्र, सांठगांठ, छल-प्रपंच होते हैं उसमें कपटपूर्वक झूठ बोलते हैं। इन सब हथकंडों से पद-प्रतिष्ठा ऊंची कर, धन-सम्पदा-ऐश्वर्य बढ़ाकर इन्द्रिय-विषयों की अनुकूलता जुटाई जाती है, उसे भोगना, रुचि लेना, रुचिकर लगना रति और प्रतिकूल हों तो अरुचिकर लगता है, वह अरति है। ऐसे सत्रह पाप हैं।

तीन शल्य (कांटे)–अन्तिम, इन सब प्यादों को सक्रिय रखने वाला, मिथ्या दर्शन शल्य है। इसमें तीन शल्य आते हैं। माया शल्य अर्थात् ऐसा कांटा कि मोक्ष मार्ग पर एक कदम भी नहीं चल सकता, पांव भी नहीं रख सकता। माया की भयंकरता ऊपर समझाई। दूसरा कांटा-निदान (नियाणा) है। यदि अज्ञानता में, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन के बिना, देखा-देखी, शरीर-सुख, संसार-लाभ से संयम और तप की आराधना करे तब भी शुभ भाव से पुण्य बंध होता है। यदि वह किसी सांसारिक-सुख में आकर्षित, भ्रमित हो, आ जाए, हो जाए और यह इच्छा

कामना करे कि मेरे संयम और तप का कोई फल हो तो मुझे यह ऋद्धि-सिद्धि, ऐश्वर्य, इन्द्रिय-विषयों के सुख मिलें। उस दोष का पश्चाताप-प्रायश्चित, धिक्कार किए बिना आयुष्य पूरा हो जाए तब अगले भव में उसे वह सुख मिल सकता है। परन्तु उसने हीरे के बदले कोयला मांग लिया। संयम और तप का फल तो कर्मों के आने के द्वार बंद करने रूप संवर है। पूर्वोपार्जित कर्म की निर्जरा और मुक्ति है। अतीन्द्रिय आत्मिक सुख है। परम आनन्द है। उसने मात्र इन्द्रिय विषय सुख मांग लिया। वह अनुपम मोक्ष सुख पाने के स्थान पर क्षणिक इन्द्रिय-सुख मांग लेता है, यही हीरे के बदले कोयला मांगना है। उसी से घोर मिथ्यात्व आ जाता है। सुख भोगकर, फिर चतुर्गति में भटकता रहेगा। मिथ्यात्व का स्वरूप पहले आ गया। ऐसे पाप-बंध का कथन पूरा हुआ।

(6) **आश्रव तत्व**–कर्म के आने को आश्रव कहते हैं। आत्मा के शुद्ध भाव और अशुद्ध भाव, दो भेद हैं। शुद्ध के कोई भेद नहीं होते। शुद्ध भाव है–ज्ञाता-द्रष्टा। मात्र जानना, मात्र देखना। स्वयं ही स्वयं के ज्ञान गुण से स्वयं को जाने, स्वयं ही स्वयं के दर्शन गुण से स्वयं को देखे। ऐसा आत्मा का स्वरूप, स्वभाव, गुण, लक्षण है। जाना कि प्रियजन है, प्रियता की क्रिया, जाना कि अप्रिय (शत्रु) है, अप्रियता (शत्रुता) की प्रतिक्रिया की। प्रियता, प्रीति या अप्रियता-अप्रीति, राग या द्वेष ये आत्मा के अशुद्ध भाव हैं, विकार हैं। स्वभाव तो आत्मा का शुद्ध-निर्मल, निर्विकारी है परन्तु अनादि अज्ञानादि बंध पर्याय से, अनादि से यह विकारी हो रहा है। जैसे शीतल स्वभावी पानी, अग्नि-संयोगी उष्ण-स्वरूपी लगता है, जला देता है परन्तु पर-संयोग से वह गुण दब, ढक गया, नष्ट नहीं हुआ। प्रमाण? उसी पानी को अग्नि से हटा दो, स्वतः ठंडा, स्वभाव प्रकट हो गया। उष्ण लगने वाले पानी को आग पर डालो, आग बुझ जाएगी, इससे सिद्ध होता है कि **वस्तु का स्वभाव नष्ट नहीं होता।**

हानि पहुंचाने वाले, गाली देने वाले का निमित्त, संयोग मिला, पूर्व में संयोगित, क्रोध मोहनीय कषाय कर्म का भी संयोग मिला, आत्मा क्रोधी, क्रुद्ध, क्षुब्ध, कुपित, उत्तेजित होते दिखा, क्रोधी कहा जाएगा, क्रोध का कर्त्ता कहा जाता है परन्तु संयोग हटते ही, वीतराग वचन के संयोग से भाव आया–मैं क्रोध-स्वभावी नहीं, शान्त स्वभावी हूं, समझा स्वरूप को, मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूं, क्रोध का शमन, शान्त, परमशान्त हुआ।

जीव के विकार से पुद्गल विकारी उसी से जीव विकार–आत्मा के

विकारग्रस्त होने में, अजीव-पुद्‌गल का विकार भी कारण बना। वह कर्म पुद्‌गल है। कार्मण वर्गणा से बना है। उस शुद्ध पुद्‌गल को मेरे विकार का निमित्त मिला। वह विकारग्रस्त हो, पुद्‌गल कर्म बना। उस विकारी पुद्‌गल कर्म के उदय में दुख पहुंचाने वाले का निमित्त आया, वह भी पुद्‌गल (अजीव) मानें। पुद्‌गल के विकार से आत्मा भी विकारी हुआ। आत्मा के विकारी भाव से वह पुद्‌गल भी विकारी हुआ।

विकार भाव, पर-भाव है। पर-पदार्थ के निमित्त से होता है। मैं निमित्त के अधीन हो, रागादि विकार भाव करता हूं। वह भाव करने वाला भी मैं ही हूं। अतः मैं क्रोधादि भाव कर्म का कर्त्ता कहलाता हूं। उसी पर-पदार्थ में कर्तृत्व बुद्धि से मैं कर्म का आश्रव करता हूं। भगवान् महावीर कर्म को पुद्‌गल मानते हैं। लोक में कार्मण वर्गणा के पुद्‌गल भरे हैं। मेरे क्रोधादि भाव करते ही, वे आकर्षित होते हैं, आते हैं, फिर मेरे कुछ भी किए बिना, वे अपनी सहज, स्व-शक्ति से, मेरे (विकार) भावानुसार ज्ञानावरण आदि सात-आठ कर्मरूप परिणमित होते हैं, विभाजित होते हैं और मेरे से जुड़ जाते हैं। मैं (अर्थात् आत्मा) जब भाव करता हूं, तब भावाश्रव। उस भाव से, वे कर्म जब आ रहे होते हैं, आते हैं, तब द्रव्याश्रव। जब मेरे साथ एकमेक जैसे हो जाते हैं तब बंध कहलाता है। आश्रव से ही बंध होता है। आश्रव में मेरे विकारी भाव मूल हैं। जिस तरतमता, श्रेणी, गाढ़ता, मंदता के भाव होंगे, कर्मों का आश्रव उसी अनुसार होगा।

'करमचंद' का लेखा पक्का है। कार्मण वर्गणा नामक पुद्‌गल में एक नैसर्गिक, स्वाभाविक, सहज शक्ति है कि वह मेरे क्रोधादि विकार से आकर्षित होता है, अपनी ही शक्ति से 7-8 कर्मरूप बनता है। आकर्षित होने संबंधी दृष्टांत बंध-तत्व में दिया–चुंबक और लोहे के कण। आकर 7-8 कर्म कैसे बनते हैं? मां के पेट में रहकर दोनों को जोड़ने वाली, नाभी से जुड़ी, नाड़ी से भोजन से बना रस पिया। उससे, फिर बाहर निकल दुग्धपान, स्तनपान किया, रोटी-सब्जी-दाल आदि उससे शरीर बना, बढ़ा, हृष्ट-पुष्ट, बलवान बना। शरीर में एक क्विंटल बोझा सिर या कंधे पर उठा लें, ऐसी मजबूत हड्डी, मांस, मज्जा, रक्त, विभिन्न अंग, अवयव, सात खरब तो भेषज में कोशिकाएं बनी, पूरे शरीर में लाखों-लाख कोशिकाएं बनती-बिगड़ती-पुनः बनती हैं। मल और मूत्र भी बनता है। अन्तिम आठवां-वीर्य भी बनता है। क्या उस रस, दुग्ध, रोटी, दाल, सब्जी में ये कहीं आपको दिखाई देते हैं? नहीं। कैसे बनते हैं, निरन्तर, जब तक जीव का शरीर से संयोग है, न्यूनाधिक बनते ही रहते हैं। इन सबके बनने की सहज-स्वाभाविक शक्ति गर्भ में मिले रस,

फिर दूध-आहार में है। बनकर फिर सात-आठ प्रकार की घातुओं में, विभाजित, संतुलित विभाजन की भी शक्ति है। ऐसे ही आत्मा के भाव गिनें, आहार और उससे बने ज्ञानावरणादि आठ कर्म और अनुपात में समानुपातिक विभाजन भी होता रहता है।

जैसा दृष्टांत में कहा कि शरीर के साथ आत्मा है, तब तक ही आहारादि से विभिन्न तत्वों, अंगों, अवयवों की रचना, पोषण होता है, न हो आत्मा तो ये नहीं बनेंगे। वैसे ही आत्मा के विकार भाव का, रागादि का संयोग, कार्मण वर्गणा के पुद्गल से हो तो कर्म-शरीर की भी रचना होती है। यदि आत्मा का विकार भाव न हो तो? जैसे वह भोजन बाहर पड़ा रहे, शव के पेट में पहुंचे तो अपनी सहज पौद्गलिक क्रिया करेगा। पुद्गल के गुण हैं–वर्ण, गंध, रस, स्पर्श। स्वभाव है–सड़न, गलन। वे औदारिक पुद्गल अपने गुण में निरन्तर परिणमन करेंगे। पर्याय में परिवर्तन होगा। स्वभाव के अनुसार सड़न-गलन भी होगा।

शरीर पुद्गल का परिणमन उसके गुण के अनुसार ही–ऐसी ही औदारिक वर्गणाओं (हाड़-मांसादि) का बना यह शरीर चाहे आत्मा साथ है तब भी अपने गुण में, अपने स्वभाव के अनुसार ही कार्य करते हैं। आत्मा के साथ रहने से कुछ भिन्नता रहेगी। सड़न-गलन तेजी से नहीं होगी। होती तो रहती है तभी तो शरीर के मुख्य नौ द्वारों से (दो कान, दो आंखें, दो नथुने, एक मुंह, मूत्रद्वार, मल द्वार) निरंतर गंदगी निकलती है।

पुद्गल-शरीर का स्व-गुण परिणमन मुझमें मानना ही अनंत कर्म का आश्रव है–प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुणों के अनुसार, अपने ही गुणों में स्वयं की शक्ति से ही परिणमन (पर्याय या रूप का बदलना) करता है। सर्वाधिक, अनन्त कर्मों के आने का, आश्रव का मूल कारण है, मैंने (आत्मा ने) माना कि यह वर्ण-गंध-रस-गुण वाला मैं ही हूं, इनमें जो निरन्तर परिणमन हो रहा है, वह मुझमें हो रहा है। मेरा गोरा रंग था, काला पड़ने लगा, चिंतामग्न हो गया। बाल काले से सफेद होने लगे, भारी चिंता, बुढ़ापा आ रहा है, रोग मुझमें आ रहे हैं। मेरा सिर-पेट दुख रहा है, मेरे ये रोग आ गए, हो गए, मैं मर रहा हूं, आदि। (मेरे संयोग से) हो तो शरीर में, शरीर (पुद्गल) के गुण-स्वभाव के अनुसार ही हो रहा है, वही उसका स्वभाव है परन्तु उसे मैंने, मुझमें होने का ऐसा भ्रम पाल लिया कि वह मेरे अनुकूल हो तो मैं हर्षित-प्रसन्न और प्रतिकूल हो तो दुखी-आर्त्त। दोनों में कर्म का आश्रव

होता है। मूल में तो इस मिथ्या-मान्यता और अज्ञानता से अनन्त कर्म का आश्रव होता है। उसी कारण बाह्य में राग-द्वेषादि होते हैं वह आश्रव का मूल हुआ।

शुभ-अशुभ भाव से आश्रव–आत्मा के निरन्तर, प्रति समय होने वाले शुभ या अशुभ भावों से कर्माश्रव हो रहा है। शुभ में नौ प्रकार के भाव आते हैं। अशुभ में हिंसा से मिथ्या दर्शन शल्य तक के 18 पाप आते हैं। शुभ भाव से पुण्याश्रव, अशुभ भाव से पापाश्रव। दिगम्बर आगमों में मूल-मुख्य, कुंदकुंदाचार्य रचित समयसार है, उसमें पुण्य, पाप दो तत्व मिलकर नौ तत्व आए हैं। उमास्वामिरचित तत्वार्थ सूत्र में पुण्य-पाप तत्व नहीं है। सात तत्व हैं। पुण्य-पाप इन दोनों का समावेश आश्रव में हो गया। एक सुखपूर्वक भोगा जा सके, ऐसी गति, मनुष्य गति देवगति में ले जाने वाला और दूसरा दुखपूर्वक, तीव्रतम दुखपूर्वक भोगा जाने वाला, तिर्यंच और नरक गति में ले जाता है। **आश्रव दोनों से है। गति भ्रमण दोनों में है।** बंध दोनों से होगा।

पुण्य से मनुष्य भव आदि : उसमें मजा ले तो पापाश्रव–पुण्य से, अनन्त पुण्य से ही यह मनुष्य भव, पांचों इन्द्रियां परिपूर्ण, नीरोगी काया मिली। बुद्धि तेज मिली। बाह्य में देखें–आर्यक्षेत्र जहां आर्य सभ्यता-संस्कृति-धर्म-दर्शन हो, वह मिला। पर्याप्त आजीविका के साधन, अनुकूल परिजनादि मिले। **अतः पुण्य और उसके अनुकूल फल से कोई भी इंकार नहीं कर सकता।** आगम प्रमाण भी है। पापाश्रव भी पुण्य के उदय में होता है। पुण्य से, साता वेदनीय कर्म से उक्त अनुकूलताएं मिलीं और उनका भोग भोगकर खूब रस लिया, उनमें सुख माना, आसक्त हुए, गृद्ध हुए, जितने अधिक भोग-साधन, उतना ही अधिक उसी में आज, आकंठ, डूबे दिखते हैं तो पुण्य के फल का क्या सार निकाला? पुनः जीवनभर ऐसा पापाश्रव किया कि अधोगति में जाना पड़े। केवलिप्रज्ञप्त वाणी श्रवण एक विशिष्ट, सातिशय पुण्य के उदय में मिलता है।

पापोदय में भी मोक्ष–मानो, पाप के उदय में कोमल कृश शरीर मिला (गज सुकुमार) काला-कलूटा-उबड़ा-कुबड़ा शरीर मिला (हरिकेशी) कुल भी चांडाल का मिला, आजीविका भी इतनी कम कि पति-पत्नी दोनों की उदरपूर्ति ही न हो (पूणिया श्रावक) छबड़ी भरकर चौराहे पर फूल-मालाएं बेचने जैसा न्यून आजीविका का साधन मिला। (अर्जुनमाला) जो कहते हैं कि पुण्योदय की पृष्ठभूमि से आत्म साधना होती है, सही नहीं है। चक्रवर्ती जितनी ऋद्धि सम्पन्नता (कोणिक) या चक्रवर्तित्व भी मिल जाए (ब्रह्दत्त चक्री) भोग भोगकर नारकी में चले जाते हैं। उक्त विपन्न न्यूनतम आजीविका, निकृष्ट कुल-शरीर वाले भी मोक्ष चले गए (एक

पूणिया श्रावक) एक भव करके चले जाएंगे। पुण्य के फल से बाह्य में अनुकूलताएं मिलती हैं। पाप के फल में प्रतिकूलताएं मिलती हैं। **आत्मपुरुषार्थी वीतरागवाणी के अनुसार पुरुषार्थ करे तो प्रतिकूलता में भी आत्मार्थ साध लेता है और हीन-उल्टा पुरुषार्थ करने वाला, पुण्य भोगकर चतुर्गति में भटकता रहता है। पुण्य से अनुकूलताओं, पाप से प्रतिकूलताओं से मोक्षार्थ का कोई सबंध नहीं है। उसे भी छोड़ना पड़ता है।** पुण्य से प्राप्त सर्व अनुकूल परिजनों, सुख-साधनों-वैभव को भी छोड़ना ही पड़ेगा और पुण्य से मिले मनुष्य शरीर से भी दृष्टि हटाकर आत्मा में लीन होने से मुक्त होता है। पाप के उदय से मिली प्रतिकूलताओं से भी दृष्टि हटाकर, प्रतिकूल शरीर से भी दृष्टि हटाकर आत्मरमणता से मुक्ति है।

क्या पुण्य करूं? मात्र गृहस्थ, चौथा, पांचवां गुण स्थानवर्ती है, अभी शरीर, परिवार उस हेतु सारा आरम्भ-समारंभ है, मोह-ममता-मूर्च्छा, फिर हिंसादि पाप से बंध, आश्रव पाप का हो रहा है, वह पूछे कि पुण्य का कार्य करूं क्या तो उत्तर है–जो धन, शक्ति, समय पुण्योदय और वर्तमान पुरुषार्थ से मिले यदि स्व-शरीर, इन्द्रियासक्ति, परिवार की मोहासक्ति में पड़ वहां लगा रहे हो तो पापाश्रव कर अधोगति में मत जाओ, उसे मूक पशु-पक्षियों, असहाय मनुष्यों के हितार्थ, निस्वार्थ भाव से, बिना प्रतिफल की चाह के, लगाओगे तो पापाश्रव से पुण्याश्रव कर सुगति में जाओगे। पर यहीं बात पूरी नहीं हुई। चेतावनी : **लक्ष्य तो संवर, निर्जरा, मोक्ष का ही रखो।**

पाप की अपेक्षा पुण्य श्रेष्ठतर है, उपादेय है। परन्तु संवर-निर्जरा की अपेक्षा निकृष्ट है, हेय है। आरम्भ-समारम्भ, मोह-ममता में पड़कर घर-गृहस्थी के कार्य में लगने वाले समय को काटकर पशु-पक्षी-सेवा, गोसेवा, समाज सेवा, श्रीसंघ सेवा में लगाना श्रेष्ठ है। परन्तु इन सेवाओं के कारण समत्व-साधनारूप सामायिक, पौषध की आत्म-साधना, कृत-पाप-कर्म-धोकर आत्म शुद्धि करने रूप प्रतिक्रमण करने, ज्ञान, आत्मज्ञान प्राप्तिकर, सम्यक्त्व की विशुद्धि, चारित्र की विशुद्धि का मूल स्वाध्याय, ध्यान साधना से वंचित होते हैं, इनमें बाधा पड़ती है तो उक्त सेवाओं से भी तब हट जाएं।

अब और पुण्य क्यों चाहिए? पुण्य अर्जित करूं, यह भाव ही क्यों? इतना पुण्य करके मैं आ गया, सातिशय, विशिष्ट पुण्य करके आ गया कि परम वीतरागी की परम अमृतवाणी श्रवणकर, श्रद्धाकर, आत्मसात कर, उसी अमृतत्व में डूब कर अमर हो जाऊं, अब, इससे अधिक पुण्य कौन सा चाहिए? अब तो आत्म-पुरुषार्थ

कर जन्म-मरण के दुख से मुक्त हो जाऊं, यही, और यही एकमात्र लक्ष्य है। न बाएं, न दाएं, न पाप, न पुण्य। न अधोगति, न उच्चगति। मात्र उलटघूम। संसार, चतुर्गतिरूप संसार से दृष्टि हटाकर मात्र आत्म-दृष्टि, स्व-दृष्टि कर मुक्त होने में जुट जाऊं, बस।

अब एकमात्र लक्ष्य मोक्ष का हो–गृहस्थ, जिसने आत्मज्ञान पा लिया, सम्यक्त्व हो गई, आगे बढ़ 12 व्रतों की आराधना में लग गया, ऐसे चौथे या पांचवें गुणस्थानवर्ती, दोनों का लक्ष्य तो मात्र आत्मशुद्धि कर मुक्त होना है। बाएं-नरक, दाएं-स्वर्ग, दोनों नहीं, मात्र गति मुक्ति। घर-गृहस्थी, नौकरी, व्यापार-व्यवसायादि का, मूलतः शरीर का कार्य करते हुए भी, उसमें अधिक समय जाया हो रहा हो, फिर भी आत्म-शुद्धि, आत्मा के, अपने कार्य को सर्वोपरिता देता है, शेष, शरीरादि-कार्य को गौण-हेय, भार, भाड़-झोंकना, कारागृह, जंजाल मानकर अधिक-से-अधिक समय उससे परे हो आत्मसाधना में लगूं, यह सोचो। लक्ष्य-पूर्णतः परायों के कार्य से परे हो मात्र आत्म लक्ष्य।

पुण्य-रूपी भूसा सहज मिलता है–उपमा से समझें–किसान दो प्रकार की खेती करता है। एक दाना प्राप्त करना। दूसरा भूसा पैदा करना। दाने के साथ, सह-उत्पाद-भूसा तो सहज है। वैसे ही, संवर-निर्जरा का कार्य करते हुए, साथ में होने वाले शुभ भाव से पुण्य तो सहज अर्जित होता रहता है। साधना करते हुए, इतने कषाय को तो कृश कर दिया, निःशेष कर दिया, इतना अवशिष्ट भी नष्ट कर दूं–यह शुभ भाव सहज पुण्य उत्पन्न करता है। जिस गृहस्थ के घर में, किसान के जैसे बहुत सारे, ढ़ोर अधिक हों, तो भूसा अधिक मिले, दाना अत्यल्प, ऐसी दूसरी खेती करता है, वैसी बहुत परिजन हों, (ढ़ोर) उन्हें बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति में, समस्या-निवारण में वस्तुऐं-साधन-सुविधाएं चाहिए, वे गृहस्थ पुण्य-रूपी भूसे-कचरे वाली खेती करो। पुण्य करो। संवर-निर्जरा-रूप दाना नहीं मिलेगा। पुण्य कमाने का लोभ, मान आदि कषाय है-पाप है। सम्यक्त्वी भवभीरू होता है। उसे सातों, सातवें मरण का भी भय नहीं होता। क्योंकि पक्का, आत्मसात कर लिया होता है कि मरने वाला तो यह शरीर है, मैं तो अजन्मा, अजर, अजर, (अर्थात् बूढ़ा होना-जरावस्था) अमर आत्मा हूं। परन्तु उसे यह भय रहता है कि, मैं प्रमाद में जाकर, कभी ऐसा कार्य न कर बैठूं कि मेरा भव बढ़ जाए। **भवभीरू, पापभीरू बनो। पाप से, पाप करने से डरो, भव से डरो अन्य किसी से नहीं।**

फिर हमारा संसार कैसे चलेगा? घर-गृहस्थी कैसे चलेगी?

संसार का अर्थ है–चतुर्गतिरूप संसार। क्या ऐसा संसार चलाकर, ऐसी घर-गृहस्थी चलाकर निरन्तर चतुर्गतिरूप संसार बढ़ाना है? सम्यक्त्वी नहीं बढ़ाना चाहता है। घर-गृहस्थी, सांसारिक कार्य भी करता है परन्तु उसमें कर्त्तृत्व बुद्धि, अहंबुद्धि, मम-बुद्धि नहीं रहती।

आत्मसाधक की गृहस्थी अच्छी चलेगी–आत्मा के आनंद में निरन्तर वृद्धि करने रूप आत्म-साधना से, आत्म-तुष्टि, संतोष, शान्ति तनाव-चिन्ता-क्लेश-परिताप से परे रहने वाले का घर-व्यापारादि भी शान्त-दत्त-चित्त होने से, सम्यक्, निर्णायक बुद्धि से, एकाग्रता से अच्छे चलेंगे। वह वे कार्य शीघ्र दफनाकर अपने कार्य, आत्मशुद्धि, आत्म-परिष्कार में जुट जाएगा, चौबीसों घंटों चक्की में नहीं पिसता रहेगा, धाणी-का-बैल नहीं बनेगा। निरर्थक कार्यों में, गप्पों में, बुद्धिभ्रष्टकर्त्ता 'बुद्धू डिब्बे' के चक्कर में समय नहीं गंवाएगा, बचाकर सामायिक-स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन, मनन में, आत्मानंद में लीन होगा। बाह्य में–सरलता, भद्रिकता, ऋजुता, नम्रता, कोमलता, दयालुता, सहनशीलता, स्नेह, सौहार्द्रय, सामंजस्य, परस्पर-प्रेम, सर्वजीवों के प्रति मंगलभाव-कल्याणी भावना आदि मानवीय गुण भी खिलते जाएंगे। भीतर भी आनन्द बाहर भी आनन्द। दुख, दारिद्रय, रोग, शोक आ गए, मानेगा–मेरे पूर्व कर्म का फल है, आर्त्त हुए बिना, दुखी हुए बिना, समत्व साधनाभाव से निर्जरित, निष्फल कर देगा, नए कर्म, हाय-विलाप करके, नहीं बंधेंगे। बाह्य में अधिक अत्यधिक सुख-सुविधाएं आएं, पुण्य का कचरा है, कचरे में लोटपोट नहीं करेगा, निर्लिप्त, उदासीन, निस्पृह, अगृद्ध, अनासक्त रहेगा।

आश्रव नहीं, संवर–दुष्फल मेरे दोष से आया, मानो–उक्त अन्तिम पंक्तियों में आया–पूर्वकर्मोदय से घर-गृहस्थी, सम्यक्त्वी तथा व्रती श्रावक (श्राविका) को सुख के कारण भी मिलेंगे, दुख के कारण भी मिलेंगे। मिथ्यात्वी, अज्ञानी दोनों में नए कर्मों का आश्रव करेगा। सुख में मजा ले, दुख में दुखी हो तो आश्रव। सम्यक्त्वी-ज्ञानी क्या करेगा? दोनों में सम। कोई विषम भाव नहीं। कर्म बांधे थे, मैंने जैसा पूर्व में, पूर्व भव में, पूर्व भवों भव में बांधा, उदय में आया, मेरा ही दोष है, दुष्फल मैंने ही तय किया था। अन्य किसी का दोष नहीं है। किसी भी व्यक्ति को, कर्म को दोष न दे, अपना दोष मानकर, ''चुप्पी'' साधकर मुक्त हो जाएगा। दूसरे को दोषी मान द्वेष करना, क्रोधादि करना, आर्त्त-दुखी होना

(आर्त्तध्यान करना), हाय विलाप करना, हींजरना, नए कर्म का आश्रव। तभी साधक की सावधानी चाहिए। ज्ञान-दर्शन, वीतराग वचन-बल, उसे चेता देगा। संवृत हो जाएगा। **अपनी ही भूल से कर्म का आश्रव। ज्ञानी के वचन से वह भूल सुधरी, पूर्व के कर्मोदय से अनुकूल-प्रतिकूल व्यक्ति के मिलने पर राग-द्वेष नहीं किया तो सब** कर्मों का आना रोक दिया, अवरुद्ध कर दिया, मार्ग अनिरुद्ध कर दिया, कर्मों के प्रवाह को, धारा को थाम लिया, संवर हो गया। मनोज्ञ-अमनोज्ञ वस्तु-संयोग में रतिभाव (मन को भाना, रूचना, इन्द्रियों से संतुष्टि का अहसास करना), प्रतिकूल संयोग में अरतिभाव (अरुचि आदि) कर्मों का द्वार खुल गया, रति-अरति से परे (देशतः अंश में या पूर्णतः) विरत (निरत) (निवृत्त) (परे) हटते ही संवर। इष्टकारी और अनिष्टकारी स्थितियां, वातावरण, निमित्त कारण बनते ही हर्ष या शोक करते ही कर्मों का आना, आश्रव, उसके स्थान पर तटस्थ भाव, मध्यस्थ भाव, समभाव, स्वभाव, शान्त भाव, सहज भाव, आत्म भाव में जाते ही संवर। साताकारी या असाताकारी परिस्थितियां, पूर्व कर्म संयोग से, आते ही उनमें आसक्त, गृद्ध, रक्त, लिप्त, लिप्सा, स्पृहा, आकांक्षा, भोग भाव या असाताकारी में घृणा, वितृष्णा, तिरस्कार, ऐसे विकृत भाव आते ही आश्रव, नए कर्मों का आना। उसके स्थान पर अनासक्त, अगृद्ध, अरस, नीरस, उदासीन, निर्लिप्त, अलिप्त, निस्पृह, अनाकांक्षा (आकुलता-व्याकुलता के स्थान पर) निराकुल, अनासक्त होते ही कर्मों का आना रुका-संवर हो गया।

पापाश्रव निरोध भी एक अपेक्षा से संवर–अपेक्षा से, पाप स्थानों का सेवन नहीं कर कर्म के आश्रव को रोकना भी संवर है, इन्हें मंद करना भी उतने अंश में संवर है। चूंकि अधिकांश में पाप हो रहा है तो आश्रव भी चल रहा है। यदि पाप-सेवन के स्थान पर पापों में प्रवृत्ति से निवृत्त होकर पुण्य-प्रवृत्ति में लग गया, तो पुण्य का आश्रव, कर्मों का आना, बंधना कायम रहा, गति-भ्रमण भी नहीं रुकेगा, शुभ गतियों में जाएगा। मिथ्यात्व नहीं गया तो उसके कारण शुभ गतियों के सुख में गृद्ध, आसक्त हो, इन्द्रियासक्त हो पुनः पाप बंध कर लेगा, चतुर्गति-भ्रमण निरन्तर रहेगा। अतः लक्ष्य तो समस्त शुभाशुभ, शुभ अर्थात् नौ प्रकार की पुण्य-प्रवृत्तियां, अशुभ अर्थात् 18 प्रकार की पाप-प्रवृत्तियां, सबसे निवृत्ति से संवर होता है। प्रवृत्ति, क्रिया, कार्य, कृत्य, कर्म सभी को समान अर्थ में लें। **ये सभी शुभ अशुभ रूकें तो संवर।**

आश्रव में हाथी द्वार है–मिथ्या मान्यता। आत्मा के अनन्त ज्ञान पर पर्दा

पड़ गया, आवरण आ गया, ज्ञानावरणीय कर्म से। दर्शन पर आवरण आ गया, उसे कहा–दर्शनावरणीय कर्म। स्वयं को न जानना, स्वयं को न देखना, शरीरादि-पराए पदार्थ को मेरा है, ऐसा जानना, ऐसा देखना, उससे हुआ, उस पर मोह, यह मोहनीय कर्म, मोहनीय कर्म में एक है, दर्शन मोहनीय, स्वयं को भूले बैठे रहना और पराये को अपना जानना-मानना। उससे, मोहनीय कर्म का दूसरा भेद-चारित्र मोहनीय। उससे पराये पदार्थ से प्रीति, ममत्व, मिथ्या मोह, क्षणिक इन्द्रिय सुख ही परम लक्ष्य, उसी में सारा पुरुषार्थ, उपयोग गुण, निरन्तर बाहर ही बाहर भटकना। उसी से कषाय, उसी से हिंसादि पाप। उसी से कर्म का आश्रव-बंध, उसी से अनन्त जन्म-मरण का अनन्त दुख।

(7) **संवर का क्रम : अंश-अंश करते पूर्ण संवर : कर्म से अकर्म में जाना संवर**–मिथ्या मान्यता, मिथ्यात्व, मिथ्या दर्शन शल्य, दर्शन मोहनीय कर्म से मिथ्या भाव आने पर पूर्णतः रोक लगा देना, **सम्यक्त्व-संवर।** अज्ञानान्धकार से ज्ञान का प्रकाश होने से आत्मा अपने ही, उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम से, आत्मा में संवृत होता हुआ, मिथ्या मोहादि को बंद या प्रथमतः मन्द करते-करते बंद करे तो अंश-अंश संवर से पूर्ण संवर। आत्मज्ञान-आत्मदर्शन के बल पर, जो हिंसा-झूठ-चोरी-अब्रह्म सेवन, परिग्रह से आश्रव हो रहा है, मंद, न्यून, स्थूलतः परित्याग या सर्वथा परित्याग करता है तो इन पंच-पापों से विरतिरूप संवर हुआ। उससे संयमित, इन्द्रिय-संयम करता हुआ, कषायों को उपशान्त-उपशमित करता है तो कषाय-संवर। पर-पदार्थ में प्रवृत्ति रूप प्रमाद से, आत्म-वृत्ति कर अप्रमत्त, ज्ञाता-द्रष्टा भाव में जाता है तो पूर्ण संवर, तत्काल में कर्मों के आने के सर्व द्वार बंद, मन-वचन-काया की प्रवृत्ति, क्रिया, कर्म, कार्य से भी परे, अक्रिय, उस काल, उन क्षणों में समस्त शुभाशुभ अध्यवसायों, भावों, परिणामों, परिणमन के स्थान पर, पर-गुण-परिणमन के भ्रम को तोड़कर **मात्र स्व-गुण-परिणमन।** स्व गुण है–मात्र जानना, मात्र देखना। साथ में कोई रागादि की क्रिया नहीं, प्रवृत्ति से निवृत्ति, रागादि से परे वीतरागता, विकार से रहित निर्विकारिता, आकुलता-व्याकुलता से निराकुलता, संकल्प-विकल्पों से परे निर्विकल्प, क्रिया से अक्रिय, कर्म से अकर्म, वह हुआ संवर। शुद्ध संवर, पूर्ण संवर। उसमें आत्मा अपने ही ज्ञान गुण से अपने आपको जानता है, अपने ही दर्शन गुण से अपने आपको देखता है। अपने ही सुख (स्वरूपानन्द) गुण से, इन्द्रिय विषयों के माध्यम से मिलने वाले क्षणिक सुख के स्थान पर, आत्मिक-सुख आत्मानंद में लीन होता है। मन का मनन, वचन का उच्चारण, काया की क्रिया पर

से ध्यान हटा, आत्मा में अडोल-अकंप स्थिर होता है, उन क्षणों में सर्व शुभ या अशुभ, शुभ में भी प्रशस्त शुभ से प्रशस्ततम धर्मानुरागरूप क्रिया से भी परे होता है। वह क्षण सर्व कर्मों के आने के मार्ग को अवरुद्ध करने रूप संवर का होता है। जो आश्रव-बंध के कारण कहे-मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और योगों में प्रवृत्ति, उन सब कारणों को बंद करना संवर हुआ। मिथ्यात्व के स्थान पर सम्यक्त्व, अविरति से विरति, कषाय से अकषाय भाव–वीतरागता, प्रमाद से अप्रमाद (अप्रमत्त-ज्ञाता, द्रष्टा भाव) और योग (मन, वचन, काया) के शुभाशुभ-व्यापार का थम जाना, पांचों को सुलटा कर दो तो आश्रव के स्थान पर हुआ संवर। उस हेतु, जिन निमित्तों से कर्म का आश्रव हो रहा था, उनका परित्याग, पूर्णतः छोड़ना, द्रव्य संवर और जिन निमित्तों, पर-पदार्थों से पर-भाव हो रहा था, उससे परे हो स्वभाव में, स्व-गुण परिणमन से, स्व, स्वात्मा में रमण से, स्वरूपरमण से परम भाव संवर। कर्मों का आना ही थम गया, पूर्णतः रुक गया। यह संवर तत्व का स्वरूप पूरा हुआ।

क्या गृहस्थी में ऐसा संवर संभव है? ऐसा **आत्मा द्वारा आत्मा में संवृत होना,** पूर्ण, शुद्ध संवर तो सातवें गुण स्थान वर्ती साधु-साध्वी ही कर सकते हैं। क्या गृह-गृहस्थी में रहते, व्यापार-व्यवसाय करते, नौकरी करते भी संभव हैं? हां, संभव है, ऊपर कहा–जिन क्षणों में, जिस काल में, शुभ और अशुभ, प्रशस्ततम शुभ से भी परे स्वरूप में स्थित हो, वही तो संवर है। अभ्यास कर, अनुभव करें कि सर्व बाह्य जंजाल से परे, एकान्त, शान्त हो बैठें, बाहर में नीरव शान्त वातावरण, भीतर पूर्ण विश्रान्ति, परम शान्ति, यह अभ्यास और अनुभवगम्य है। द्रव्यतः सर्व पर-द्रव्य से हटकर फिर परम-संयोगी-शरीर, उसकी ऊंची-नीची क्रिया, परिणति, वेदनादि के माध्यम से होने वाले विकल्प, आकुलता से परे होने का निरन्तर अभ्यास करें तो उन क्षणों में, आत्म-स्थिरता बढ़ती जाएगी, आत्मा के अपूर्व आनन्द का आस्वाद, आत्मामृत पान होने पर वह शुद्ध संवर होगा जिसमें सर्व क्रियाओं से परे अक्रिय होंगे।

अति जंजाल संवर में बाधक है–जिसके बाह्य में जितने अधिक जाल-जंजाल, चिंता, दुख, क्लेश, परेशानियां, परिताप, दुस्वप्न, दुर्भाव, तनाव, मोह, ममता, मूर्च्छा, तृष्णा, इच्छा, आकांक्षा, कामना, वासना, तृष्णा, महत्वाकांक्षा, मृगतृष्णा आदि विकार के कारण होंगे, उसका संवृत होना, इन कारणों से कर्मों के निरन्तर आने रूप आश्रवों को रोकना, संवर में जाना, उतना ही

दुर्लभ, कठिन होगा। बाधक कारणों को ढूंढ़ो और क्रमशः उन्हें हटाओ। यह कठिनतम प्रयोग है, क्या करें, आपको उस अग्नि-परीक्षा में ही सफल होना है, आपने मार्ग ही ऐसा चुना है कि बाधक कारणों, विपरीतताओं, प्रतिकूलताओं में भी आपको संवर की आत्मसाधना करते हुए, अंश-अंश निर्जरा करते हुए मुक्त होना है।

विकार से परे होना संवर–जिन-जिन विकारी भावों से आत्मा, परमार्थतः निर्विकारी होते हुए भी, विकारग्रस्त हो रहा है, उन विकारों से परे होना संवर है। विकार है तो आश्रव है। विकार जितने अंश में, जिन क्षणों में पूर्णतः रुकें, उतने अंश में, उन क्षणों में संवर है। विकार, आपका अनुभव है, पूर्व कर्म-संयोग से अनुकूल-प्रतिकूल निमित्त कारणों से हो रहा है, तो फिर निमित्त-कारणों से, अनुकूल या प्रतिकूल निमित्त, व्यक्ति, वस्तु, स्थिति, परिस्थिति से भी, द्रव्यतः भी हटना पड़ेगा, फिर भावतः उन कारणों से विकार होने से आश्रव हो रहा था, वह विकारी भाव घटा, मिटा तो अंश संवर, पूर्ण संवर, उस काल में होगा।

आश्रव को दृष्टांत से समझें–अघाती कर्म है–नाम, गौत्र, आयु और वेदनीय। अघाती अर्थात् आत्मा के निज गुणों में घात (हानि) नहीं करने वाले कर्म। निज गुण, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि आत्मिक गुणों में घात (हानि) करने वाले हैं ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय (अनादि मिथ्या मोहादि से उपार्जित) मोहनीय और अन्तराय कर्म। अघाती कर्म में से मोहनीय कर्म के, चारित्र मोहनीय में से राग मोहनीय वेदनीय कषाय कर्म का उदय आया। ज्ञात होता है, जब पूर्व में उपार्जित सातावेदनीय कर्म के फलस्वरूप, शरीर को साता, इन्द्रियों में से फिर किन्हीं पांचों इन्द्रियों की पूर्ति में अनुकूल व्यक्ति मिला, साता, इन्द्रिय-सुख का निमित्त कारण सामने खड़ा है, उससे प्रेरित, प्रभावित, आकर्षित, मोहित, भ्रमित हो, पूर्व में उपार्जित राग मोहनीय वेदनीय कषाय के उदय से रागभाव होता है, दोनों कारणों के मिलने से नए कर्मों का आना, आश्रव हुआ। **संवर कैसे?**

निमित्त के अनुसार न करें तो संवर–राग का निमित्त : राग मत करो–पूर्वबद्ध कर्म के फल से, वह निमित्त तो मानो, मैंने नियत किया था, वैसा ही आया, आयेगा ही। वह निमित्त, रागी, मुझे राग में ले जाना चाहता है, उसका भी, घाती के उदय से भाव में राग आ सकता है, यदि मेरा स्वयं के भ्रम से होने वाला भाव, राग भाव मैं न करूं तो, वीतरागी परमात्मा कह गए वह निमित्त तो, रागी तो

राग कराना चाहता है, तत्पर खड़ा है, मैं करना चाहूं तो करूं, न करना चाहूं तो न करूं, करूं तो मरूं, चर्तुगति में अनन्त बार, न करूं तो चर्तुगति से मुक्त होऊं। वह निमित्त-रागी विकार में ले जाकर, आश्रव कराएगा, विकार न करूं तो संवर हो गया। मंद करूं तो मंद आश्रव, तीव्र करूं तीव्र आश्रव-बंध, न करूं तो संवर। दोनों विकल्प मेरे हाथ में हैं। चुन लो। ज्ञानी वही, सम्यक्त्वी वही जो राग से वीतरागता की ओर बढ़ता जाए, अन्ततः पूर्ण वीतरागी हो जाएगा।

द्वेष का निमित्त–द्वेष मत करो–दूसरा रूप–अघाती में से, असाता वेदनीय कर्म के उदय में एक व्यक्ति दुख देने आया, गाली दे रहा है, शरीर को हानि, परिजन-प्रिय जन को हानि, धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा को हानि, इन्द्रिय सुख में बाधा या इन्द्रिय सुख-साधन-पूर्ति में बाधा दे रहा है, आदि। घाती कर्म में से मोहनीय कर्म के एक भेद, द्वेष (क्रोध) मोहनीय वेदनीय कषाय कर्म का उदय आया। उस प्रतिकूल निमित्त के आते ही, उससे प्रेरित, भ्रमित, प्रभावित हो, मानो, मैं क्रोधावेग में, आगबबूला हो, प्रतिक्रिया में–एक की जगह दो गाली, मार-पीट आदि करता हूं तो पुनः नए कर्मों का आश्रव-बंध। ध्यान रखें–आश्रव द्वार को, कारण, निमित्त कारण को बंद करना, हटाना ही संवर है। असातावेदनीय कर्म तो जिस गाढ़ मंदता का बांधा था, वैसा ही उदय में आना ही था, अटालनीय है, वह तो आएगा ही, आ गया, खड़ा है, सामने, मानो अपना कार्य कर रहा है। मैं उसके अनुसार, पूर्व की भूल, ज्ञानी के वचन-बल से सुधार लूं और प्रतिक्रिया में, प्रतिक्रोध, प्रतिहिंसा, प्रतिकार, प्रतिरोध, प्रतिवार, प्रत्याक्रमण, प्रतिवाद, प्रति उत्तर ही न दूं, अपने में चला जाऊं, तो नए कर्म आने का द्वार बंद कर दिया, संवर हो गया। सम्यक्त्वी, ज्ञानी ऐसा ही करते हैं। ज्ञानी, चौथे गुण स्थान से आगे सभी गिने गए हैं। पूर्व में अज्ञान, मिथ्यात्व में मैं भूल करता रहा, आश्रव-बंध कर रहा था, अब ज्ञानी, परम ज्ञानी के वचन सुन-पक्के कर लिए, अब भूल क्यों? अनादि की, **पूर्व की भूल सुधरी कि संवर।**

इसे अन्य **दृष्टांत से समझें**–एक सबल बच्चे ने निर्बल बच्चे को खेलते हुए किसी कारण से जोरदार चांटा मार दिया। वह बिसूरता हुआ गया। 5-7 तगड़े मित्रों को बदला लेने हेतु बुला लाया। सबल बच्चा घर में जा मां की गोद में बैठ गया। वे बच्चे बाहर ताल ठोंक रहे हैं, निकल बाहर, अभी अकल ठिकाने लगाते हैं तेरी। मां की गोद में से निकाल कर तो मार नहीं सकते थे, थोड़ी देर तक ताल ठोंकते रहे, फिर बिखर गए।

सबल बच्चा मैं, जोरदार चांटा-राग या कई निर्बल जीवों की हिंसा-विराधना। निर्बल-वेदनीय कर्म (अघाती, निर्बल), अपने साथ ज्ञानावरणादि सातेक को और ले आया और मुझे चर्तुगति में अनन्त बार मारने के लिए ताल ठोंक रहे हैं, मैं प्रवचन माता की गोद में दुबक कर बैठ गया। प्रवचन अर्थात् अपूर्व पुरुष, परम ज्ञानी की परम-अमृतवाणी-वीतरागी की गोद में बैठ गया। वे सब बदला लेने आए, मेरे रागादि रूप चांटे से बने कर्म, अब उदय में आकर, आश्रव-बंध करवाने हेतु तत्पर खड़े हैं। मैं अन्दर गुप्त हो गया। जितने जोर से, जितनी देर तक ताल ठोंकते रहे, मैं मां की गोद, प्रवचन माता की गोद में निर्भय, अभय बैठा रहा, वे थक-हारकर चले गए। संवर हो गया।

प्रवचन माता का दूसरा अर्थ, पंच महाव्रती जब पांच समितियों और तीन गुप्तियों, आठ की परिपालना में लगा है, तब पर-पदार्थ के कारण होने वाले पर-भाव से परे हो, स्व-भाव में चला जाए, तो आश्रव रुका, संवर हो गया। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह इन पांच पापों को आजीवन, तीन करण-तीन योग से सेवन न करना, यह महाव्रतों की आराधना, संयम या संवर है। इन पापों से संवृत हुआ। फिर उपयोगपूर्वक गमनागमन, शब्दोचार, आहार-ग्रहण, वस्त्र पात्रादि उठाना-रखना, शरीर से निकले गंदे पदार्थ (उच्छिष्ठ) इतनी यतना से परठना कि, किसी भी जीव की हिंसा विराधना न हो, किसी जीव को क्लेश न हो, ये पांच समितियां हैं। (क्रमशः शास्त्रीय शब्द, ध्यान में रख सकें तो रखें, ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप, परिष्ठापना)। मन् वचन काया को अक्रिय करना, गुप्ति है।

गृहस्थ कैसे करें? मन-वचन-काया का व्यापार, आत्मा के (मेरे) भावों के अनुसार, शुभ या अशुभ में निरंतर निरत रहता है, चलता रहता है, तब तक आश्रव है। जब इनका शुभ या अशुभ, दोनों व्यापार रुक जाए, मन को चुप, चुपचाप बैठा रह, कोई चिंतन-मनन नहीं, वचन से भी उच्चारण, मन-मन में बोलना भी नहीं और काया की किसी भी क्रिया, किसी भी अंग की अनुकूल-प्रतिकूल क्रिया से दृष्टि परे कर आत्म गुप्त होना, यह आश्रव द्वार रोकना संवर हुआ। इसे मन गुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति कहा। पांच और तीन, मिलकर आठ प्रवचन माला कहलाए, इनमें लीन होते, अपने में तन्मय, तल्लीन होते ही, स्वयं में रमण करते ही, आने वाले कर्मों का रुक जाना, संवर होता है। गृहस्थ, चौथा, पांचवां गुणस्थानवर्ती भी अंश में, अंश-अंश में बढ़ता जाकर ऐसा आश्रव द्वार बंद करने रूप संवृत हो सकता है। आत्मपुरुषार्थ करो।

(8) **निर्जरा तत्व–संवर पूर्वक निर्जरा होती है।** संवर में पहले जो दृष्टांत लिए, निर्जरा तत्व में, उन्हीं से निर्जरा कैसे होती है, यह समझें। संवर में आने वाले वर्तमान कर्माश्रव के द्वार रोकना है। निर्जरा पूर्व बद्ध कर्म की होती है। कितने कर्म बांध रखे हैं, मुझे ज्ञात नहीं हैं। जब कोई अनुकूल-प्रतिकूल निमित्त आता है तो समझो, वह पूर्वबद्ध कर्म का फल है। अज्ञानता, मिथ्यात्व के कारण, मिथ्या-मोहादि करके कर्म का आश्रव-बंध होता है। यह कर्म-श्रृंखला बन जाती है। मैं आत्मा अनादि से हूं। अनादि से मैं अनन्त ज्ञान-दर्शनादि गुण सम्पन्न हूं। परन्तु अनादि से मेरे साथ ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का संयोग भी है। उनमें से चार अघाती कर्मों के फल से शरीरादि मिलते हैं। शरीर के साथ इन्द्रियां जुड़ी हैं तो अज्ञानता से मैं अनन्त रागादि भाव कर्म से भी जुड़ा हूं। तीन संयोग हुए–ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, उसके कारण शरीरादि, उसके कारण रागादि भावकर्म।

चक्रव्यूह में से कैसे निकल सकते हैं? अनादि-श्रृंखला कैसी हुई, द्रव्य कर्म से भाव कर्म, भाव कर्म से द्रव्य कर्म, द्रव्य कर्म के फल से शरीरादि। शरीरादि से पुनः रागादि भाव कर्म किया, उससे ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म बंधे। क्रमशः अनन्त काल से मैं ऐसा फंसता आ रहा हूं, यह दुष्चक्र, चक्रव्यूह, चर्तुगतिरूप चक्र। अनादि काल से, अभी तक की भूल अज्ञानता में करता रहा–उदय कर्म के ही अनुसार राग-द्वेष रूप वर्तन। मनुष्य भव, कुशाग्र बुद्धि, आर्य क्षेत्र, आर्य कुल मिला। आर्य अर्थात् तीर्थंकर के वचन सद्गुरु भगवन्त से सुन समझा कि तीनों संयोगी हैं। मैं संयोगों से परे अयोगी आत्मा हूं।

कर्म-फल न चखूं तो निर्जरा–इस पक्की समझ से, उसके बाद पूर्वबद्ध कर्म, द्रव्य कर्म फल लेकर आया, अनुकूल या प्रतिकूल फल किसी निमित्त के माध्यम से देना चाहता है। मैं अपने में लीन, ध्यानमग्न हो गया। वह निमित्त-कारण **जितने काल का, जैसा अनुभाव बंध बांधा था, वैसा उतने काल तक फल देता रहा, दे दिया, मैं अपने में मग्न, आत्मध्यान में लीन रहा। उस कर्म के अनुसार मैंने कोई राग या द्वेष की प्रतिक्रिया नहीं की। वह कर्म फल देकर निर्जीर्ण हो गया, नष्ट हो गया।** मैं उस पूर्वोपार्जित कर्म से मुक्त हो गया। यह निर्जरा कहलाती है। चूंकि मैंने कोई राग-द्वेष की प्रतिक्रिया नहीं की तो नए कर्म आना रुके, संवर हुआ। फल दे दिया, उस फल से मैं सुखी या दुखी नहीं हुआ, निर्जरा भी हो गई इसलिए संवर-पूर्वक निर्जरा होती है।

संवृत अणगार कैसे निर्जरा करते हैं, आगम के दृष्टांत से समझें। पूर्व में, निन्यानवे लाख भवपूर्व कर्म बांधे। बड़ी पत्नी। (पति ने बड़ी से सन्तान न होने से नया विवाह कर लिया) छोटी के पुत्र हो गया। पति का सारा प्रेम बड़ी से हट छोटी से हो गया। वह महादुखी हो, इन्द्रिय सुखों हेतु तड़फती रहती थी। दुर्भाव–यह छोटी (सौत) मर जाए तो, इसका बेटा मर जाए तो अच्छा हो, फिर गाढ़ भाव-मार ही डालूं, दोनों को। मरवा दूं। इतने में भोली पूछने आई, बहन! बेटे के सिर में दुख रहा दिखता है, बहुत रो रहा है। सुझाव-बड़ा आसान, एक मोटा रोटा बना, जो गरम हो, गरम-गरम ही इसके माथे पर बांध देना, सिकाई हो जाएगी, ठीक हो जाएगा। भोली ने वैसा ही किया। गरम रोटा बांध सुला दिया। बच्चा सिसकियां ले रहा था। सोचा, थोड़ा गरम है, इससे रो रहा है, सिकाई होने से ठीक हो जाएगा, नींद आ जाएगी।

बच्चा छोटा था। माथा नरम था। रोटा गरम था। माथा सीज गया। रोते-रोते बच्चा मर गया। निन्यानवे लाख भव बाद बड़ी पत्नी, आज गज सुकुमाल अणगार के रूप में, महाशमशान में, साधनारत, ध्यानमग्न हैं। वह बच्चा आज सोमिल ब्राह्मण के रूप में सामने है। उसकी बेटी को कृष्ण महाराज, सहोदर गजसुकुमाल के विवाह हेतु ले गए, विवाह नहीं कर त्यागी। दुष्ट कहीं का, मेरी बेटी को विधवा बनाकर बड़ा मुनि बन यहां खड़ा ढोंग कर रहा है। कोपाविष्ट हो, गीली मिट्टी की पाल सिर पर बांधी। धगधगाते खैर के अंगारे एक ठीकरे में भरे, महामुनि के माथे पर धरे और डरकर भागा।

एक प्रवचन सुन अनन्त कर्म की निर्जरा कैसे? पति-सुख पीड़ा में विह्वल, सौत-पुत्र, दोनों को मार-मरवा डाल षडयंत्र, उसी की पूर्ति में, अनायास अवसर जान, कपटमय सुझाव दिया। ये सारे घोर पाप बंध। बच्चे को मरवा डाला, मनुष्य हत्या का घोर पाप बंध। अज्ञान, मिथ्यात्व-दोनों से मिथ्या रति भाव, रति क्रीड़ा का भाव आदि से मनुष्य हत्या, अनन्त कर्म बांधे। इतने भव में भटक, पुण्य से मनुष्य, विशिष्ट पुण्य किसी पूर्व भव में बांधा, उसके फल से, देवकी महारानी के पुत्र, कृष्ण महाराज के सहोदर बने, तीर्थंकर अरिष्टनेमि से तत्व सुना, आत्मा शरीर की भिन्नता का भान हुआ। अनन्त भव भ्रमणकर्त्ता दर्शन मोहनीय क्षय हुआ, शुद्ध आत्मा का ज्ञान, भान, अनुभव हुआ, उससे अनन्तानुबंध कराने वाला घोरतम क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय कृश हो गया। इतने कर्म जो पूर्व में गाढ़ बांधे थे, एक प्रवचन सुन, निर्जरित कर दिए।

शरीरादि सभी पराये हैं जानने से–आत्म ज्ञान, आत्म दर्शन, आत्मानुभव होने से, शरीर, शरीर से जुड़े परिजन, धन-वैभव मैं नहीं, मेरे नहीं पक्का आत्मसात हुआ। उन परायों से परे हो जाना, स्वयं में लीन हो जाना। आगे की दो चौकड़ी कषायों को कृश कर दिया। निर्जरा। क्रोधादि कषाय का मिट जाना हुआ निर्जरा। शास्त्रीय शब्द लें–पर-पदार्थ के कारण होने वाले पर-भाव का प्रत्याख्यान न होने देने वाली कषाय-चौकड़ी है–अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ। दीक्षा ले, आत्मलीन हो जाऊं, निश्चय से वह भी टूटी, परिजन, धन, वैभव, अग्रज प्रिय ने तय की भावी पत्नी से विवाह नहीं करना, भोग-भोगकर कर्म नहीं बांधना। संवर हुआ। परित्याग, कृष्ण वासुदेव ने अपना सिंहासन उन्हें दे दिया, वह भी त्यागा, संवृत, अगली चौकड़ी प्रत्याख्यानावरणीय कषाय कृश कर दी। निर्जरा।

आत्म-पुरुषार्थ से ही संवर-निर्जरा–पंच महाव्रत ग्रहण कर संयम ले लिया। पांच पापों, सह राग-द्वेष-मोह, क्रोध-मान-माया-लोभ से आने वाले कर्म रोक दिए-संवर। परम गुरु तीर्थंकर परमात्मा से महाशमशान में जा एकान्त ध्यानलीन होने की आज्ञा ली। संवृत अणगार। अपने उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम, आत्मगुण, प्रकट कर, अडोल-अकंप ध्यान। संवर। भयंकर दुख, कष्ट, बाधा, प्रतिकूलता, उपसर्ग (किसी मनुष्य, पशु, दुष्ट देव द्वारा घोर कष्ट पहुंचाना) वाले स्थान पर जा ध्यानमग्न होना–संवर पूर्वक निर्जरा का आत्मपुरुषार्थ प्रारंभ।

आत्मध्यान से सर्वकर्म निर्जरित–पानी में लकीर लगाएं तो तुरंत मिटे इतना सा क्रोध, मान, माया, लोभ-कषाय (संज्ज्वलन कषाय) बचा। उसी प्रकार के हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, ये नौ नो-कषाय, कषाय जैसे, कषाय को सहयोगी नौ कषाय बचे। इतना सा तो घाती कर्म बचा है। अघाती में तीव्रतम असाता वेदनीय कर्म बचा है। उन्हें ज्ञात नहीं है। कोई सत्ता में, पूर्वबद्ध कर्म बंधा पड़ा है, वह कब उदय में आकर मुझे विकार में ले जा नए कर्म बंधवा देगा, अतः सजग, जागरुक आत्मसाधक उन्हें शीघ्र उदय में लाना चाहता है। सजग अवस्था में उनसे युद्ध कर परास्त करना चाहता है। उस हेतु घोर-से-घोरतम कष्ट-उपसर्ग-दुख आ सकें, ऐसे व्यक्तियों के बीच, ऐसे विपरीत स्थानों पर जा ध्यानस्थ हो जाता है। कर्म-निर्जरा दो प्रकार से-जो कर्म सहज उदय में आ गया, उससे अप्रभावित रह आत्मध्यान में चले तो निर्जरित होता है। आत्मपुरुषार्थ से उदय में शीघ्र लाकर फिर उससे परास्त न हो, परास्त कर दे, वह

निर्जरित होता है। उसे शास्त्र में **उदीरणा या उदीरणकरण** कहा है। ये महामुनि वह कर रहे हैं।

पूर्वबद्ध तीव्रतम असाता, मरवा डाला बच्चे को, उससे बंधा तीव्र असाता वेदनीय कर्म, जिसे वह असाता दी, योग से वही, आज सोमिल के रूप में खीरे रख रहा है सिर पर, समझें बद्ध कर्म की निर्जरा करने हेतु शीघ्र उदय में लाए। जिस समय ऐसी तीव्र से तीव्रतम वेदना का निमित्त वेदना पहुंचाए, साधक उस वेदनानुभूति के स्थान पर आत्मानुभूति में लीन हो, तो जिस कर्म से वेदना हो रही थी, वह निस्तेज हो निर्जीर्ण हुई, वह अघाती का फल, दुखी करने आने वाला, स्वयं ही पैदा किया, शत्रु उस पर कोई क्रोधादि भाव नहीं करने से परास्त। समझें, **निर्जरा का स्वरूप कैसा है।**

ज्ञान-दर्शन की परीक्षा–एक दिन पूर्व सुन-समझ-पक्का किया, आज उस ज्ञान की परीक्षा दे रहे हैं। शरीर (सिर) मेरा नहीं है। वर्ण-गंध-रस-स्पर्श का, मिट्टी का सड़ने-गलने-नष्ट होने वाला पुतला है। मैं पूर्णतः भिन्न शुद्ध आत्मा हूं। पराये से परे हट, उससे होने वाले पर-भाव से हट, स्व-स्वभाव में रमण। जिस काल में वे आत्ममरण, ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव में हैं पर-भाव, क्रोधादि नहीं हो सकते थे। तय भी किया था–क्रोधादि मेरा स्वभाव नहीं, विभाव है। **विभाव से आश्रव-बंध, स्वभाव में जाने से संवर-निर्जरा।** देखें, वह कैसे हुआ। सोमिल, अंगारे, अंगारों से वेदना, पूर्व पुद्गल-कर्म के फल हैं। मैं मात्र ज्ञान चेतना, दर्शन चेतनारूप हूं, कर्म-चेतना, कर्मफल चेतना रूप नहीं हूं। जो हूं वह हो जाऊं, जो नहीं हूं वह नहीं हो जाए, निर्जरा, मोक्ष धर्मध्यान या आत्मध्यान। फिर शुक्लध्यान में चले गए। सर्व पर-भाव रूप क्रिया-प्रतिक्रिया से **अक्रिय ध्यान**, ज्ञाता-द्रष्टा भाव में चले गए। उसी काल में तीव्रतम अनुभाव वाली असाता वेदनीय कर्मसत्ता नष्ट, निर्जीर्ण हो गई, घाती में अवशिष्ट संज्जवलन, नौ नोकषाय भी निर्जीर्ण हो, केवल ज्ञान केवल दर्शन। तभी आयुष्य काल पूर्ण और मोक्ष। यह निर्जरा का धर्मकथा से स्वरूप कहा।

क्या करें कि कर्मों की निर्जरा हो जाए–मैं अनन्त ज्ञान-दर्शन सम्पन्न आत्मा हूं। संयोगी शरीर के कारण, उससे होने वाली मोहासक्ति सर्वाधिक है। उसी में समाविष्ट पांचों इन्द्रियों में आसक्ति-गृद्धता, रस लीनता से पूर्व में बंधे कर्म उन्हें निर्जरित-नष्ट करने, पुनः नए कर्म न आएं, ऐसा संवर करने हेतु शरीर को भूखा रखना, अनशन, भूख से न्यून, अति न्यून देना, उणोदरी, जिव्हा लोलुपता, रसना के सुख मिलें इस हेतु बढ़िया-बढ़िया रसीले, गरिष्ठ, स्वादिष्ट भोजन करना,

उससे आने वाले कर्म रोकने, उस रसलोलुपता, गृद्धता को तोड़ने, रूखा-सूखा, नीरस, दूध-दही-घी-तेल-मीठा (पांच विगय) से रहित भोजन लेना, रस-का-राजा नमक बिना भोजन करना (नीवी, आयंबिल, विगय त्याग, नमक त्याग) रस-परित्याग करना, ये तीन बाह्य तप शरीर और जिव्हा पर विजय हेतु हैं। यदि बिना खेद खिन्न हुए, बिना दुखी, आर्त्त हुए, उस परित्याग के साथ आत्मध्यान साधना हो तो पूर्व संचित कर्म की निर्जरा होती है।

तप की अवधि में आरंभ-समारंभ क्यों? पक्का ध्यान रखें, आत्मा-शरीर की भिन्नता, आत्मज्ञान, आत्मदर्शन के बिना बाह्य तप, कुछ शुभ भाव में जाने से, थोड़ा सा पुण्य बंध करेंगे और मिथ्यात्व पड़ा है अतः भवभ्रमण निरन्तर रहेगा। सम्यक् ज्ञान-सम्यक् दर्शन बिना बाह्य त्याग, बाह्य तप का निषेध नहीं है, यदि उस निमित्त से सद्‌गुरु का समागम, सत्श्रुत श्रवण हो जाए तो आत्मावबोध हो सकता है। यदि ऐसा बाह्य त्याग, तप कर, उसी अवधि-काल में सारा आरंभ समारम्भ, कषाय आदि चल रहे हैं तो पाप-बंध जारी है। तुलना में लेशमात्र कुछ पुण्य है। उसे संवर-निर्जरा मान लेने का भ्रम मत पालो।

भिक्षाचरी, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता, मुख्यतः संयमी साधक करते हैं। शालिभद्रसम समृद्धि, पद-प्रतिष्ठा, सर्वस्व का त्याग कर, याचना से संयम निर्वाह हेतु शरीर टिकाए रखने हेतु आहार मांग कर खाना, मान का मर्दन किए बिना संभव नहीं होता। अहंकार और दीनता रहित आहार-याचक भिक्षु की भिक्षाचरी एक कठिन तप है। मिले, न मिले, सरस मिले, नीरस मिले, समभाव में रहना, आत्मभाव से विचलित न होना, निर्जरा माना है। शीत परीषह, उष्ण परीषह सहन करते हुए आत्मध्यान में रहना निर्जरा है। काया को क्लेश या कष्ट का अनुभव नहीं होता। मैंने इससे अपनेपन का जितना संबंध मान रखा है, उतनी ही भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी की वेदनानुभूति मुझे (आत्मा को) होती है। चाहकर उस शरीरासक्ति को तोड़ने के लिए शीत आतापना, उष्ण आतापना लेना आदि कायक्लेश तप हैं। अनार्य क्षेत्र में अनार्य दुखी करें, सर्प की बांबी पर जाएं, चंड कौशिक डस ले, ऐसे घोर शरीर कष्ट साधक स्वयं मोल लेकर उसी निमित्त में आत्मध्यान में लीन रहता है, प्रतिसंलीनता का तप है। **बाह्य में सभी होने वाले तप, आभ्यांतर साधना करते हुए सहज होते हैं। करने, दिखाने नहीं हैं। दिखावा किया कि मान कषाय का महापाप होगा।**

आत्मा में लीनता करते हुए बाह्य (बाहर के) तप सहज होते हैं–वस्तुतः निर्जरा तो आत्मा अपने स्वभाव में रहे, ज्ञाता-द्रष्टा भाव में रहे, सर्व बाह्य क्रिया, प्रवृत्ति, कार्य, कर्म से परे अक्रिय हो जाए उसी से है। महामुनि एकान्त में, जंगल में, कन्दरा, गुफा में, खंडहर में, यक्षायतन में जा खड़े आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं। तब एक दिन से लगाकर, कभी-कितने, कभी कितने दिन, चार माह, छः माह निकल गए, कहा–महामुनि महावीर ने ऐसे-ऐसे अनशन तप किए। वस्तुतः वे आत्मध्यान में थे, बाहर में वह अनशन उनका सहज होने वाला तप हमें दिखा। उन्हें आत्मा दिखी, ध्यान आत्मा में हो तब बाह्य में चाहे शीत हो, उष्ण हो, उनका ध्यान उधर नहीं जाता। शरीर के प्रति आसक्ति को तोड़ने हेतु शीत या उष्ण आतापना है। वैसे ही पूर्व कर्म को शीघ्र उदय में लाने हेतु विपरीत स्थान या विपरीत व्यक्तियों के बीच जाते हैं। वहां वे कष्ट उपसर्ग दें और साधक उससे लेशमात्र भी विचलित हुए बिना मात्र आत्मा में लीन रहता है, तब निर्जरा। **बाह्य में दिखा प्रतिसंलीनता का तप। वस्तुतः वे आत्मध्यान में रहते हैं।** कर्म उदय में आया, फल दे दिया, वे आर्त्त-दुखी हुए ही नहीं, उनका ध्यान उपसर्ग, उपसर्गदाता, कष्टानुभूति में गया ही नहीं, कर्म निर्जरा हुई।

कायोत्सर्ग से निर्जरा–ऊपर विस्तार से गज सुकुमाल अणगार ने ऐसा ही किया, वह समझा। 1141 व्यक्तियों की हत्या से बंधे तीव्रतम असाता वेदनीय कर्म की निर्जरा उसी राजगृही नगरी के चौराहे-चौराहे पर ध्यानस्थ, स्वरूपस्थ, आत्मस्थ रहे, अर्जुनमाली अणगार ने की। जिस नगरी के मनुष्यों को मारा वहीं जा ध्यान लगाना, विपरीततम स्थान था। बाह्य में दिखा-प्रतिसंलीनता का तप कर रहे हैं। वे काया का उत्सर्ग कर आत्मा में लीन थे। उत्सर्ग अर्थात् कष्ट, कष्टदाता, शरीर पर लेशमात्र ध्यान नहीं है। उसे कायोत्सर्ग कहा। उससे निर्जरा है।

स्वाध्याय से निर्जरा कैसे? जिस समय सद्गुरू भगवन्त से आत्मतत्व-अनात्मत्व का भेद समझ रहे हों, संशय दूरकर पक्का करने हेतु प्रश्न पूछ रहे हों, जिस शरीरादि से भिन्न आत्मत्व को जाना, उसी-उसी का स्मरण-रमणता हो रही हो, उसी को देख रहे हों तब निर्जरा होती है। उस काल में जिस कर्म का उदय है उसी समय में ऐसे तत्वज्ञान, आत्मज्ञान में तल्लीन होने रूप स्वाध्याय हो रहा है तब वह कर्म निर्जर जाता है। जब आत्मा स्वयं के ही परमगुण आनन्द, अपूर्व आनन्द में, स्वरूप में रमणता कर, उस समय सर्वविकार, सर्व संकल्प-विकल्प, सर्वविचार थम जाते हैं, निर्विकार, निर्विकल्प, निर्विचार हो जाते

हैं तब निर्जरा है। जिस समय समस्त शुभ या अशुभ, प्रशस्त से प्रशस्ततर धर्मानुराग रूप बाह्य क्रिया, प्रवृत्ति, कार्य, कर्म न हो, उस अक्रिय अवस्था में निर्जरा कर मुक्ति होती है।

पश्चाताप से निर्जरा–जिस समय अपने पूर्व में बांधे कर्म, पूर्व में किए पापों की अन्तःकरण से, प्रथमतः शब्द से, फिर शब्दातीत हो, धिक्कारते हैं, पश्चाताप करते हैं, प्रतिक्रमण करते हैं, स्वयं ही स्वयं की, विकारी, पापी, दुष्ट, दुरात्मा, पापात्मा की आलोचना, निंदा करते हैं, सद्‌गुरु के समक्ष सर्व पापों-विकारों-दोषों को खोल-खोलकर रखते हैं, तब सर्व पाप, अतिचार, दोष धुल जाते हैं, पाप गल जाते हैं। आत्मा का परिष्कार, परिशुद्धि, विशुद्धि होती है, वहां निर्जरा है। इसे प्रायश्चित नामक आभ्यांतर तप कहा है।

वैयावृत्य एवं परम विनय से निर्जरा–जब गुरु, परमगुरु, परमज्ञानी, ज्ञानी के समक्ष विनयवंत हो, उनकी शुद्ध आत्मा पर दृष्टि कर, स्वयं की शुद्ध आत्मा में रमणता हो, तब उस विनय से निर्जरा होती है। ज्ञानी, रुग्ण की सेवा वैयावृत्य करे, बाह्य में मल-मूत्र धोना-फेंकना, मवाद साफ कर पट्टी करना आदि पर अहो! इतनी पीड़ा होते भी ये कैसे आत्मध्यान में, समाधि में लीन रहते हैं, उनकी शुद्ध आत्मा से, स्वयं की शुद्ध आत्मा में रमणता से निर्जरा है।

(9) **मोक्ष तत्व**–परम गुरु परमात्मा तीर्थंकर स्वयं भाव मोक्ष में हैं। मात्र ज्ञाता-द्रष्टा भाव में, स्वरूपानंद में रमणता करने वाले परम वीतरागी परम शुद्ध उनकी वीतराग-वाणी को सद्‌गुरु से सुन-समझ पक्का किया कि मैं भी वैसा ही। मैं भी मोक्ष स्वरूपी हूं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन स्वरूपी हूं। देहादि समस्त पर-द्रव्य हैं। पर-द्रव्य के माध्यम से होने वाले पर-भाव, रागादि मैं नहीं, मेरा स्वभाव नहीं है। मैं ज्ञाता-द्रष्टा-स्वरूप, सहज, शुद्ध आत्मा हूं। उस देहाध्यास के छूटते ही, देह का कर्तृत्व छूट जाता है, शुद्ध आत्मा प्रकट होती है, अनन्त ज्ञान-अनन्त दर्शन प्रकट होता है। यही शुद्ध धर्म है, यही शुद्ध स्वभाव है, यही मोक्ष, यहीं मोक्ष है। संसार में, देह के साथ रहते हुए देहातीत, अतीन्द्रिय आनन्द में लीन। शुभ भाव से पुण्य, उससे देव और मनुष्य गति का सुख-इन्द्रिय सुख। अशुभ भाव से पाप और उससे तिर्यंच गति और नरक गति का दुख, शरीर-दुख। जब समस्त शुभ और अशुभ से, समस्त पुण्य और पाप से परे हो, तब आत्यांतिक आत्मा का सुख, आत्मानंद, अपूर्व आनन्द, परम सुख। वह मोक्ष है। जब विकारी भाव से, पर-पदार्थ के कारण, शरीरादि पर-द्रव्य, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म से होने वाले रागादि विकार भाव से

आने वाले कर्मों को रोकना प्रारंभ हुआ, मोक्ष प्रकट होना शुरू हो गया। जब सर्वविकारी भावों से परे पूर्ण संवृत हुआ, तब पूर्वोपार्जित कर्म का सहज उदय आया, उससे अप्रभावित रहे, लेशमात्र उसके कारण विकार न उठे तो अंश-अंश में वे कर्म निर्जरित होते गए। जब उदीरणकरण करके, बाद में उदय में आने वाले कर्मों को पहले ही उदय में लाए, कष्ट, उपसर्ग, बाधा, प्रतिकूलता, परीषह आ जाएं, तभी उधर न देख, न झांक, आत्मा में लीन, ज्ञाता-द्रष्टा, स्वयं ही स्वयं को जानना, स्वयं ही स्वयं को देखना, जानना-देखना, जानना-देखना हो, कर्मों की धड़ाधड़ निर्जरा होते-होते सर्वघाती कर्म नष्ट होने पर मोक्ष। ज्ञानावरणीय नष्ट होने पर अनन्त ज्ञान, दर्शनावरणीय नष्ट होने पर अनन्त दर्शन, मोहनीय नष्ट होने पर आत्मा को आत्मा के अनन्त सुख का आनन्द और अन्तराय कर्म के क्षय होने पर आत्मा का उपयोग मात्र आत्मा में स्थिर होते ही मोक्ष।

जन्म-मरण का अन्तः शुद्ध परमात्मा अवतार नहीं लेते–ऐसे अरिहंत, जिन, केवली परमात्मा के चार अघाती कर्म शेष हैं परन्तु वे निज गुणों में लेशमात्र भी हानि नहीं पहुंचाते। उनके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अनन्त स्वरूप प्रकट हो गये। अब उन्हें कुछ भी करना शेष नहीं रहा। उन्हें कृतकृत्य कहा। परम शुद्ध, परम बुद्ध, परम मुक्त हैं। परम वीतरागी हैं, परम शान्त हैं। परम आनन्द में सदा लीन रहते हैं। आयुष्य काल स्वतः व्यतीत होता है। वह पूर्ण होते ही, शेष, नाम, गौत्र, वेदनीय भी समाप्त हो जाते हैं। अशरीरी हो जाते हैं। तब सिद्ध शिला पर जा बिराजते हैं। लोक के अग्रतम भाग पर अवस्थित रहते हैं। वहां अनन्त काल तक बिना किसी बाधा के अनन्त आत्मिक सुख, आनन्द में लीन रहते हैं। कर्मांश ही नहीं है, अतः पुनः विकार भाव उठे, ऐसा कोई कारण नहीं। निर्विकारी, शुद्ध हैं अतः पुनः जन्म नहीं लेना है। परिनिर्वाण या निर्वाण हो गया, सर्व दुखों का अन्त हो गया। ईश्वरवादियों के ईश्वर (परमात्मा) संसार में जब-जब संकट होते हैं, राक्षसी वृत्तियां बढ़ जाती हैं, तो भले मनुष्यों की रक्षा हेतु जैसे अवतार लेते हैं, वैसे सिद्ध परमात्मा नहीं होते। पुनः जन्म, अवतार नहीं है।

भरत क्षेत्र में पांचवें आरे से मोक्ष होता है क्या? आत्मा की जितनी-जितनी शुद्धि होती जाती है, उतना-उतना मोक्ष है। जितने अंश में, जिस काल में आत्मा को अपने अपूर्व आत्मा का आनन्द आता है, वह मोक्ष है। जितने अंश में आत्मा के गुणों की घात (हानि) करने वाले घाती कर्मों का क्षय होता है, उतना मोक्ष है। उनमें मोहनीय कर्म सर्वघाती माना है। स्वयं, स्वयं को नहीं जानने-देखने दे, परिचय ही

नहीं होने दे, जो शरीर आदि ही मेरे हैं, उसी में सुख है, ऐसा अहसास करवाता है, उसे दर्शन मोहनीय कर्म कहा है। उसी से शरीर आदि में ममता, मूर्च्छा, मोहासक्ति होती है, इन्द्रियों के माध्यम से मिलने वाले सुख ही अच्छे लगते हैं, वही सुख है, उसी के लिए जिस जीव की जितनी इन्द्रियां हों, जितना आयुष्य काल हो, पूरा काल उसी में लग जाता है। वैसे ही मनुष्य के पास पांच इन्द्रियां और मन वाला शरीर है। सारे विश्वलोक में समस्त मनुष्य मात्र इस भव के, वर्तमान के, इन्द्रियों से मिलने वाले सुख अधिक-से-अधिक मिलें, उसी हेतु पूरा जीवन लगाते हैं। उसी में आज का मनुष्य जीवन की सफलता मानता है। आत्मा का भान ही नहीं हो, श्रद्धा, प्रतीति, अनुभव ही न हो, वह दर्शन मोहनीय है, उसी से आत्मा के स्वयं के, सहज, स्वाभाविक परम आनन्द का अनुभव न होने दे उसे मोहनीय का दूसरा भेद चारित्र मोहनीय कर्म कहा। उससे होता है मिथ्या मोह।

मेरे सभी गुण एक साथ उल्टे चल रहे हैं–इसके पीछे अज्ञान और मिथ्यात्व (अदर्शन) का बल है। वह अज्ञान और अदर्शन ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म से है। आत्मा के स्वयं के ज्ञान गुण, दर्शन गुण को ढ़कने वाले। वैसा ही अन्तराय कर्म है। आत्मा के वीर्य गुण को प्रकट नहीं होने देता। उपयोग शरीर, परिवार, धन वैभव, इन्द्रिय विषयों के भोगों में ही भटकता रहता है। सारी आत्मशक्ति उसी में लगती है। इन तीन के बल से मोहनीय कर्म कार्यरत हो मिथ्या भाव करके मोह (क्रोध, राग) आदि अनन्त विकारी भाव में ले जाता है। एक अपेक्षा से चारों घाती कर्म एक साथ कार्यरत हैं, परस्पर जुड़े हुए, एक-दूसरे के सहायक। सभी गुण एक साथ उल्टे चलते हैं।

सभी गुण सुल्टे कैसे हों? कैसे, क्या करें? मनुष्य जन्म में ही यह कार्य संभव है। बुद्धि अन्य गतियों की अपेक्षा अच्छी मिली। परस्पर तय करके, अपने विचारों के आदान-प्रदान हेतु मनुष्यों के भिन्न-भिन्न समूहों ने अपनी-अपनी भाषा तय की, विकसित की, उससे भावों को व्यक्त करना, प्रकट करना, अन्य द्वारा ग्रहण करना, भाव समझना होता है। पांच इन्द्रियों वाले पशु-पक्षियों-पानी में-भूमि में रहने वाले पंचेन्द्रिय जीवों के भी मन है, पर मनुष्य जैसी भाषा नहीं है। पूर्व भव के विशिष्ट पुण्य से सत्गुरु की सत्वाणी सुनकर, सत्स्वरूप आत्मा और असत्-स्वरूप शरीर आदि का स्वरूप, भेद समझता है। वहीं से मोक्ष का प्रारंभ होता है। ज्ञान पर से आवरण हटता है, अपने आपका, शरीरादि से भिन्न शुद्ध आत्मा का ज्ञान, केवली परमात्मा-तीर्थंकर की वाणी से, वे नहीं हैं अभी यहां तब

वही वाणी सद्गुरु निर्ग्रंथ साधु-साध्वी से सुन-समझ-आत्मसात करता है। शरीरादि को अपना मानने, इन्द्रिय विषयों में ही सुख है, यह मिथ्या-मान्यता टूटती है, उसी से होने वाले मिथ्या मोहादि अंश-अंश में नष्ट होकर शुद्ध स्वरूप, वीतरागता, निर्मोह स्वरूप अंश-अंश में प्रकट होता है। इन्द्रियों से परे, मन से भी ऊपर, आत्मा के ही सुखामृत का आस्वाद आता है, परमानंद का अनुभव आता है। **घर-गृहस्थी में रहते हुए ही इतना होता है। वह आत्मज्ञान, आत्म-बोध, जितने-जितने अंश में बढ़ता है, उतनी-उतनी शुद्ध आत्मा उसकी वीतरागता, निर्विकारी अवस्था प्रकट होती है।** इन्द्रिय विषय और उनसे मिलने वाले सुख को, आत्मानंद की तुलना में हेय, अवांछनीय, अनाचरणीय, तुच्छ, त्याज्य (हीन, न्यून, छोड़ने योग्य) मानने लगता है। घर-गृहस्थी में रहते-रहते ही उस आनंद का अनुभव बढ़ना और क्रोधादि कषाय का मन्द होना, राग-द्वेष-मोह घटते जाना, इन्द्रिय विषयों के रस छूटते जाना, सब एक साथ होते, अत्यधिक **आत्मानंद का अनुभव तो उन भोगों, रागी-द्वेषी-मोहियों के बीच रहते हुए होता है। भोगों में रस नहीं आता, अभोगवृत्ति होती है। उनमें आसक्ति घटती जाती है, विरक्ति, अनासक्त भाव होता है। उन्हीं में खूब रचा-पचा नहीं रह पाता। गृद्धता घटती है। उनमें लिप्त नहीं होता। कीचड़ में कमल के समान निर्लेप रहता है। मोक्ष-सुख कहें या आत्मिक सुख, एक ही बात है, बढ़ता जाता है, आत्मा के अपूर्व आनन्द को मोक्ष कहा है।** कोई उसी में रहते-रहते उत्कृष्टतम दशा प्रकट कर सकता है। कोई सरल-विरल-विरले जीव ऐसा कर पाते हैं। आत्म पुरुषार्थ जगे तभी कर पाते हैं।

तुच्छ और त्याज्य का परित्याग–तब संसार, सांसारिक भोगों से विरक्त हो, संसारियों, भोग साधनों, धन-वैभव का सहज परित्याग होता है। तुच्छ, त्याज्य तो केवली की वाणी सुनते-समझते-आत्मा में पक्का जमते ही हो जाता है। उसे शास्त्र की भाषा में चौथा, सम्यक्त्व, गुणस्थान कहते हैं। विषयों में विरक्ति, कषायों का शान्त होते जाना, फिर प्रथम पांच पापों में परिसीमा (घटाना) ही पांचवां व्रती गुणस्थान, घर-गृहस्थी में, इतने अधिक अंश में मोक्ष सुख, आत्मा का आनंद तो वहीं होता है। आवश्यकताएं, इच्छाएं बाह्य में इतनी कम हो जाती हैं कि आरंभ-समारंभ भी परिसीमित, कम-कम होता जाता है। मात्र जो संयोगी परिजनादि हैं उनसे ममता-मूर्च्छा पूरी टूटी नहीं, भार मान कर, भाड़ झोंक रहा हूं, निरर्थक की कर्मबंध कर रहा हूं, कब छूटूं, सर्वतः विरत हो जाऊं, ऐसे भावों के साथ कुछ समय घर-गृहस्थी में रहता है। इतनी हिंसा, झूठ, चोरी भी क्यों करूं,

पाप बंध क्यों करूं, कम-मंद होते हैं। एक दिन सर्व विरति संयम ले लेता है। विषय-कषाय तो वहीं मंद हो रहे थे, कृश कर रहा था, आत्मानंद बढ़ता जा रहा था, सातवें गुणस्थान जैसी अप्रमत्त साधना, स्वाध्याय-स्वयं का अध्ययन, मनन, चिंतन, ध्यान दृढ़ होता जा रहा था। बाह्य में दिखा, जब पांच महाव्रत लिए। पहले भाव साधुता, फिर द्रव्य साधुता, ऐसा मोक्ष सुख का क्रम है।

केवल ज्ञान के लगभग भूमिका अप्रमत्त आत्मसाधना–संयम लेने पर सत्गुरु का परम समागम, सत्श्रुत श्रवण, श्रद्धान, ज्ञान, विरति, अप्रमत्ता बढ़ती जाती है। आत्मध्यान, अप्रमत्त साधना इतनी बढ़ जाती है कि कुछ ही समय में पूर्ण वीतरागता, शुद्धता प्रकट हो जाए समस्त कषाय-विकार नष्ट हो जाएं पर भरत क्षेत्र में, पांचवें आरे में केवल ज्ञान का पुरुषार्थ नहीं होता। अधिकांशतः 99.09% तक मोक्ष सुख, आत्म सुख होता है। जरा सा रागांश, कर्मांश रह जाता है, उससे शुभतम देव गति का बंध होता है। एक अगला मनुष्य भव पा, सर्वविरति संयम विरहमान परमात्मा के सानिध्य में, महाविदेह में, पालते, पूर्ण वीतराग संयम, परम वीतरागता, परम आत्मशुद्धि केवल ज्ञान हो जाए फिर मोक्ष हो जाता है। कभी पुरुषार्थ में किसी साधक के यहां-वहां कमी रह जाए तो तीन भव, सात-आठ भव, 15वें भव में मोक्ष चला जाता है। **इसलिए यह सोचकर कि अभी मोक्ष नहीं है अतः खूब खाओ, पीओ, मस्त रहो, चार्वाकवादी-नास्तिक बन भवभ्रमण नहीं बढ़ाना।** यह अमूल्य मनुष्य जन्म और वीतरागवाणी श्रवण का स्वर्णिम अवसर मिला उसे शरीर, परिवार, धन, वैभव, भोगों में ही रत, अनुरक्त, आसक्त, गृद्ध रहकर गंवाना नहीं है, अन्त समय पछताना नहीं पड़ेगा 'कालचंद' न जाने कब आ धमके, प्रतिपल उसे ध्यान में रखकर परायों के काम से शीघ्र निवृत्ति ले, अपना, आत्मा का कार्य करना है।

सम्यक्त्व हुई और मोक्ष निश्चित–इन नौ तत्वों का जैसा स्वरूप तीर्थंकर परमात्मा ने फरमाया, भावतः वैसा ही समझ, अवधारणा पक्की, समझ पक्की कर, उन पर श्रद्धान, आत्म श्रद्धान पक्का करने से सम्यक्त्व और उसी से मोक्ष, ऐसे नौ तत्वों का कथन पूरा हुआ मानें।

आत्मसाधना में, मोक्षार्थ साधना में जाति-वेष, लिंग बाधक नहीं–भगवान् महावीर किसी अपेक्षा से कर्मवादी हैं, वस्तुतः अकर्मवादी हैं–आत्मसाधना में मुख्य है, आत्मा का पुरुषार्थ, आत्मा के ज्ञान, दर्शन गुण, आत्मा में से ही प्रकट

होते हैं, उसमें शरीर, लिंग (स्त्री, नपुंसक, पुरुष लिंग), वेष, बाह्य में ग्रहण किया जाने वाला सर्वविरति संयम, उसमें भिन्न-भिन्न वेष, दिगम्बर (नग्न शरीर) या वस्त्र, वे भी भिन्न-भिन्न, इनकी कोई महत्ता नहीं। आत्मा को आत्मा का ज्ञान, आत्मा को आत्मा का दर्शन, आत्मा का आत्मा में रमणता करना, ऐसा ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म ही मोक्ष मार्ग और ज्ञान-दर्शन-स्वरूपरमणता की पूर्णता मोक्ष है। उसका प्रारंभ चौथे गुण स्थान पर, जब सम्यक्त्व प्रकट होती है तब, पूर्णता केवल ज्ञान, 13वां गुण स्थान है।

महावीर, ईश्वरवाद की अपेक्षा कर्मवाद को मानते हैं। पूर्ण सत्य है कि ईश्वर या उसका कोई प्रतिनिधि–ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सृष्टि की, मेरी रचना करने, पोषण करने, नाश करने वाले, कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता नहीं हैं। कोई देवी-देवता भी सुख-दुख नहीं देते। मैं (आत्मा) अपने कर्मों के अनुसार ही सुख-दुख के निमित्त प्राप्त करता हूं, अतः कर्मवाद कहलाया।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चांडाल कौन?

जन्मना जाति से महान् या हीन नहीं–फिर, महावीर यह उद्घोष भी स्पष्टतः करते हैं कि जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नहीं होता। क्षुद्र, तुच्छ, हीन, पाशविक, राक्षस, चांडालिक प्रवृत्तियां हैं, उनमें रत रहने वाला जन्म से उच्च वर्ण, कुल का है परन्तु चांडाल है। मन का शुभ या अशुभ व्यवहार-कार्य व्यापार निरन्तर होता है। लाभ की दृष्टि वाला वैश्य होता है, जब अशुभ के स्थान पर मन के शुभ व्यापार प्रवृत्तियों के साथ बाह्य जीवन चलाएं तो वह वैश्य है। शरीर-शस्त्र बल से दूसरों का नाश करने हेतु युद्ध कर जीतने वाला क्षत्रिय नहीं, किसी भी वर्ण-कुल-जाति में जन्मा हो अपने कर्मशत्रुओं, राग-द्वेष-मोहादि महाशत्रुओं से युद्ध कर जीते वह क्षत्रिय है। जो शास्त्राभ्यास करे-कराए, शास्त्र कौन से, जिनसे आत्मा, कर्म, कर्म से रहित परम शुद्ध आत्मा, परमात्मा का रहस्य, सृष्टि-लोक की त्रैकालिक (तीनों काल शाश्वत-सत्य) सत्ता को जानने में आ जाए। उसके कारण स्व-कृत कर्म को स्व-पुरुषार्थ से नष्ट कर शुद्धात्मा बन जाता है, यह पठन-पाठन करने वाला, उपाय बताने वाला, उससे शुद्धात्मा बन जाने वाला, परम ब्रह्म-आत्मा हो जाने वाला, दूसरों को वह परम तत्व समझाने वाला ब्राह्मण है। बाह्य में शील-सदाचार पाले, हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन सेवन, परिग्रह से विरत हो, वह ब्राह्मण है, चाहे जन्म किसी भी जाति-कुल,

हीन-तुच्छ-चांडाल कुल में हुआ हो। महावीर के तीर्थ में चारों प्रकार की जातियों-कुलों में जन्मे श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी थे और कई मोक्षगामी हुए हैं। अतः महावीर जातिवादी व्यवस्था नहीं मानते, मोक्ष की, आत्मा की साधना में जाति, वेश, लिंग, बाधक-साधक नहीं हैं। आत्मा की साधना आत्मा द्वारा, आत्मा के ही गुण प्रकट करने से होती है। इस अपेक्षा से कहा कि मनुष्य जन्म से महान् नहीं कर्म से महान् बनता है।

कौन से कर्म से मनुष्य महान् बनता है? कर्म से अकर्म में जाने से। शुभ भाव से पुण्य कर्म और अशुभ भाव से अशुभ-से-अशुभतम फल देने वाला। पापकर्म। ऐसे कर्म, शुभ या अशुभ भावों को क्रियान्वित करने की क्रिया, प्रवृत्ति, कार्य (कृत्य), कर्म सब पर्यायवाची मानें। क्रिया है तो कर्म है। शुभ क्रिया का फल सुगति, मनुष्य गति और देव गति। अशुभ क्रिया का फल, तिर्यंच गति और नरक गति। इन दोनों से रहित हो जाय तो गति-मुक्ति, मोक्ष। प्रवृत्ति से निवृत्ति, कर्म से अकर्म, क्रिया से अक्रिया में ले जाते हैं-महावीर। 'कर्म किए जा, फल की चिन्ता मत कर वह तो मैं दे दूंगा' यह महावीर का सिद्धान्त नहीं है। 'कर्म ही पूजा है' यह सूत्र व्यावहारिक जीवन को मात्र क्रियाकांडी बन पूजा-प्रार्थना के स्थान पर कार्य करने पर जोर देता है।

क्रिया है तो कर्म, अक्रिया से मुक्ति–ये कार्य, कर्म, प्रवृत्ति, क्रियाएं करते हुए जीव के अनन्त जीवन (भव) व्यतीत हो गए। अनादि से मानव भी यही करता आया है। आज भी विश्व के सभी 8-10 (करीब) अरब व्यक्ति इसी में लगे हैं पर आकुलता-व्याकुलता के स्थान पर निराकुल स्वभाव प्रकट नहीं होता। अशान्ति के स्थान पर शान्ति, परम शान्ति् प्रकट नहीं होती। इसलिए महावीर ने प्रवृत्ति से हटकर निवृत्ति मार्ग अपनाया। यह पंचमहाव्रत रूप निवृत्ति भी उनके पालनरूप प्रवृत्ति बन गई, उसे बड़ी कड़ाई से पाला जाना, उस हेतु पांच समितियों का पूर्ण सावधानी से पाला जाना, फिर पालने-रूप क्रिया में अटक गए। अप्रशस्त भावों में मन, वचन, काय की प्रवृत्ति न कर, प्रशस्त भावों में, मन-वचन-काया प्रवृत्त हुए। माला फेरो, जप-तप करो, सामायिक करो, स्वाध्याय करो, ध्यान करो, त्याग प्रत्याख्यान करो, प्रतिक्रमण करो। ज्ञानी की, गुरु की विनय-भक्ति करो, सेवा-वैयावृत्य करो आदि 'करो, करो' फिर भी रह गए। ध्यान करो। इसमें 'करो' आ गया।

करो-करो-करो में ही अटके तो भटके–घर-गृहस्थी में पाप-क्रिया रही। साथ में, फिर अधिकांश में पुण्य-क्रिया रही। आत्म साधना में आए तो शुभ अध्यवसाय, प्रशस्त से प्रशस्ततर, प्रशस्ततम, शुभ से शुभतम क्रिया रही। ये प्रवृत्तियां बाहर में दिखती हैं परन्तु वस्तुतः सभी निवृत्ति में, अक्रिय में, अकर्म में ले जाने वाली हैं। प्रशस्ततम धर्मानुराग (क्रिया) से भी उत्कृष्टतम अक्रिया में जाना है।

स्वयं-स्वयं में होना ध्यान है–इनका चरम ध्यान, मात्र आत्म-ध्यान मानें। उसमें भी ध्यान 'करने रूप' क्रिया बन गया। ध्यान की सैकड़ों पद्धतियाँ और सैकड़ों प्रवर्तक, ध्यान-शिक्षक हो गए। महावीर ने कौन सा ध्यान किया? बाह्य में कोई सिद्धासन, पद्मासन नहीं। कोई पद्धति नहीं, कोई चिन्तन नहीं। कोई मनन नहीं। मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया ही नहीं। न एकान्त अशुभ पाप क्रिया, न शुभ क्रिया, न प्रशस्त, शुभतम क्रिया। अक्रिया। आत्मा, एक द्रव्य है। उसके गुण हैं–ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त। स्वभाव है, स्वयं को जानना, स्वयं को देखना। कोई क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं। मन, वचन, काया का कार्य-क्रिया नहीं। ये तीनों आत्मा के भावों को बाह्य में व्यक्त करने, क्रियान्वित करने के साधन हैं। इन्हीं के माध्यम से कोई भी बाह्य प्रवृत्ति, क्रिया, कार्य, कर्म आदि होते हैं। वे एकान्त अशुभ, शुभ, एकान्त शुभ-से-शुभतम। महावीर कहते हैं, **क्रिया है तो कर्म हैं, अन्तःक्रिया है तो मुक्ति है।**

करना नहीं, जो 'हूं' वह 'हो जाऊं'–गुणों को, स्वभाव को, सहज गुण को, सहज स्वरूप को 'करना' नहीं पड़ता, जानना क्रिया नहीं है। जान कर प्रिय-अप्रिय मान प्रियता-अप्रियता मन-वचन-काया से प्रकट होगी, प्रवृत्ति होगी। मात्र जानना, मात्र देखना, प्रथम स्तर पर पर-पदार्थ को पर-पदार्थ रूप जानना-देखना, स्व-पदार्थ को स्व-रूप जानना-देखना। जब पर-पदार्थ "मैं नहीं, मेरा नहीं, मेरा, त्रिकाल, कभी होता नहीं", तो पर-पदार्थ को भी जानना-देखना बन्द। मात्र स्वयं को जानना, स्वयं को देखना। वह 'करना' क्रिया नहीं है, वह शब्द में **स्व-गुण-परिणमन 'करना' कहा जाता है, वह 'होना' है। जो 'हूं' वही 'हो जाना' उसमें क्रिया नहीं, क्रिया से रहित, सहज-स्वभाव होना है। वही 'अक्रिया' है, वही अन्तःक्रिया है। जिन क्षणों में वह हो, उसी में स्थिर हो, अपने-आप का अपूर्व आनन्द है। वहां ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की एकता है।** वह 'मैं' आत्मा, मात्र ज्ञाता, मात्र द्रष्टा, मात्र स्व का ज्ञाता, स्व का द्रष्टा। अरिहंत परमात्मा-सिद्ध परमात्मा ऐसे ही हैं। उस अक्रिय स्वरूप का प्रारंभ चौथे गुणस्थान से और पूर्णता 13वें गुण स्थान

पर है। इसे कहा महावीर कर्मवादी नहीं अकर्मवादी हैं। कर्म से अकर्म में, क्रिया से अक्रिया में, प्रवृत्ति से निवृत्ति में ले जाने वाली। सिद्ध परमात्मा को अक्रिय, अकर्म, निष्क्रिय, अकम्मा, निःकम्मा (निकम्मा, कुछ काम नहीं, कुछ करना नहीं) ऐसा है। ऐसा मैं (आत्मा) जानो, मानो, देखो, वैसे हो जाओ। परम आनंद में लीन। शरीर, इन्द्रियां नहीं होते भी, परम आत्मिक, अनन्त आनन्द में लीन हैं। अव्याबाध सुख में रहते हैं। वर्तमान संसारस्थ-आत्मसाधक भी शरीर की, इन्द्रियों की, मन की समस्त ऊंची-नीची क्रियाओं से अप्रभावित, 'अक्रिय' होता जाता है, एक दिन अन्तःक्रिया कर मुक्त हो जाता है। ऐसा मुक्ति का, मोक्ष का मार्ग है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र की एकतारूप मोक्ष मार्ग है–ज्ञान, दर्शन, चारित्र की एकता, अविरुद्धता, एकरूपता, मोक्ष मार्ग है। आचारांग आदि शास्त्र, शब्द ज्ञात तो हो पर आत्म ज्ञान न हो, नव तत्वादि का श्रद्धान तो हो पर आत्म दर्शन न हो, व्रत-महाव्रतादि रूप चारित्र तो हो पर स्वरूपरमणता, आत्मरमणता न हो। इन तीनों बाह्य से आगे बढ़कर वह शुद्ध स्वरूप प्रकट होते जाना, आत्मा को आत्मा का ज्ञान, आत्मा का दर्शन, आत्मरमणता रूप, इन तीनों अनन्त गुणों की एकता रूप 'आत्मा हो जाना' यह मोक्ष है। उस परम-चरम पर पहुंचने रूप आत्म-साधना रत्नत्रय ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्ष मार्ग है। उस पर चौथा गुण स्थान वाला धीमें चलने वाला, पांचवां तेज चलने वाला, छठा-सातवां गुण स्थान वर्ती आगे वाले सभी तेजी से दौड़ने वाले। मार्ग एक है। सभी तीर्थंकर इसी का प्रतिपादन करते हैं, विरोध नहीं है। एकरूपता है।

शब्द-कोष

मनानीत = मन से परे, मन से अतीत, मन से मनन नहीं-आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान।

अवगाहना = वह क्षेत्र जिसे कोई द्रव्य घेरता है। संसार अवस्था में आत्मा प्राप्त संयोगित शरीर के प्रमाण से आत्मा के प्रदेश फैलते-सिकुड़ते हैं। सिद्ध परमात्मा के अरूपी-अमूर्तिक आत्मा की अवगाहना स्थिर हो जाती है उसे अटल अवगाहना कहते हैं।

अगुरूलघुत्व = न अधिक, न कम, द्रव्य के गुण कभी घटते-बढ़ते नहीं।

आव्याबाध = सिद्ध परमात्मा को आत्मिक आनंद, सुख में कोई बाधा नहीं रहती।

प्रबुद्ध	=	बुद्धिमान
अस्तेय	=	चोरी का पाप नहीं करना
गुरू आम्नाय	=	अमुक गुरू या अमुक सम्प्रदाय के गुरू को अपना गुरू मानना
आभ्यांतर	=	आन्तरिक, आत्मा के गुण
दिग्दर्शित	=	बता देना
पाँच तन्मात्रा	=	पांच भावेन्द्रियां जो जड़ कर्म से प्रभावित होते हैं, (सांख्यमत)
उच्छेदवाद	=	जड़ मूल से नष्ट हो जाना, देह की मृत्यु से देही (आत्मा) की मृत्यु मानना
पृथक	=	अलग
गृद्धता	=	उसी में अत्यन्त रस लेना, सुख मानना
लिप्सा	=	किसी भी इन्द्रिय के सुख को खूब भोगने का भाव
स्पृष्ट	=	स्पर्शित, छूकर रहना
ज्यामितीय	=	गणित, दो गुना, चार गुना, सोलह गुना बढ़ना (ज्योमेट्री)
क्षुब्ध	=	अत्यधिक दुखी होकर अन्य पर क्रोध करना
नैसर्गिक	=	प्राकृतिक, स्वयं का गुण, प्रकृति से प्राप्त
निस्पृह	=	भोग में रस नहीं लेना, वांछा-इच्छा नहीं रहना
अप्रमत्त	=	निरन्तर आत्मा में जागृत रहना
प्रशस्ततम	=	शुभ भाव में, वे शुभभाव तो देव, गुरू, धर्मसंबंधी हो, अनुराग हो
संवृत	=	जो साधककर्मों के आने के मार्गों को रोक देता है
प्रतिसंलीनता	=	एक बाह्य तप जिसमें साधक विपरीत स्थान-व्यक्तियों के बीच जाता है और कष्ट-उपसर्ग आने पर भी विचलित नहीं होता।
वैय्यावृत्य	=	संयमी साधु, साध्वी की सेवा, सुश्रुषा करना

ANTIQUITY OF JAINISM (NIRGRATHA)

The late Heinrich Zimmer, who is reputed to have been the greatest German Indologist of modern times, in his celebrated posthumous work. The philosophies of India, conceded that there is truth in the jain ideal that their religion goes back to a remote antiquity, the antiquity in question being that of the pre-Aryan, so called Dravidian period, and that Jainism is the oldest of all Dravidian born philosophies and religions. He also, psychologically demonstrated that jain yoga originated in pre-Aryan India, and has nothing to do with orthodox Brahmanism which simply appropriated it in later centuries.

Noel Retting, another indologist, writes, ‘‘only in Jainism, of all the living religions, do we see a fusion of the primitive with the profound. It has preserved elements from the first stage of man's religious awareness, animism. It affirms the separateness of spirit from matter, even though our modern philosophers and religionists regard neither form of dualism as untenable. despite the opinion of these men, Jainism is fundamentally scientific. And, it may very well be, contrary to the opinions of many anthropologists and students of comparative religion, the oldest living faith.’’ And, professor L.P. Tessitory is of opinion that ‘‘Jainism is of a very high order. It important teachings are based upon science. The more the scientific knowledge advances the more the jain teachings will be proven.’’

In fact, the jain system of thought is so wonderfully consistent with modern realism and science that one may easily be tempted to question its antiquity, about which, however, there is now no doubt. As Dr. Walthur Schubring observes, ‘‘He who has a thorough knowledge of the structure of the world cannot but admire the inward logic and harmony of jain ideas. Hand in hand with the refined cosmographical ideas goes a high standard of astronomy and mathematics.’’ Dr. Hermann Jacobi also believes that ‘‘Jainism goes back to a very early period, and to primitive currents of religious and metaphysical speculation, which gave rise to the oldest Indian philosophies. They (the Jains) seem to have worked out their system from the most primitive notions about matter.’’